

स्कन्दगुप्त विभ्रमादित्य

(ऐतिहासिक नाटक)

जयशङ्कर प्रसाद



प्रकाशक श्रीर विवेका
भारती मंडार
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

बापूजी संस्करण
सं० २०१३ वि०
मूल्य १॥)

मुद्रक
वि० प्र० ठाकुर
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

निवेदन

(प्रथम संस्करण से)

श्री अण्णकरप्रसाद के नाटकों ने हिन्दी-साहित्य के एक अंग की बड़ी ही सुन्दर पूर्ति की है। उनकी कल्पना कितनी मार्मिक और उच्च कोटि की है—इसके विषय में कुछ कहना बाधाकण्ठा मात्र होगी।

उनके नाटक हमारे स्थायी साहित्य के मंदार को अमूल्य रत्न बेन के तिरा एक और महत् कर्म कर रहे हैं, यस है हमारे इतिहास का उद्धार। महाभारत युग के 'नागपद्म' से लेकर इयंशालीन 'राम्यत्री' प्रभृति नाटकों से वे हमारे सुप्त इतिहास का पुनर्निर्माण कर रहे हैं। ऐसा करने में चाहे बहुत-सी बाधे कल्पना-प्रसूत हों, किन्तु 'प्रसाद' जो की वे कल्पनाएँ ऐसी मार्मिक और अपने उद्दिष्ट समय के अनुकूल हैं कि वे उस समय की पूर्ति कर देती हैं जो विस्मृति के तिमिर में बिलीन हो गया है।

किसी काल के इतिहास का जो गूदा है—अर्थात् महापुरुषों की वे कहानियाँ, जिनके कारण उस काल के इतिहास में एक विशिष्ट रूप पाया है, उसे यदि कोर लेखक अपने पाठकों के सामने प्रत्यक्ष रख सके, तो उसने भूटा नहीं कहा, वह तथ्य ही है, चाहे वास्तविक हो या कल्पित।

भगवान् कृष्ण ने गीता के रूप में जो अमृत हमें दिया है, उसका चाहे ही पुष्य ही रूप में वर्णन करें, पर यदि उन रगीन मटकों में से हम उस अमृत का पान कर सकते हैं, तो वे सब के-सब उसका लिए समुचित मात्रा ही ठहरे—अपर्यं के हृषिम आहम्बर नहीं।

गुप्त-काल (२७५ ई०-५५० ई० तक) अतीत भारत के उत्कर्ष का मण्डा है। उस समय आर्य-साम्राज्य मध्य-एशिया से जावा-सुमात्रा तक फैला हुआ था। समस्त एशिया पर हमारी संस्कृति का मंडा फरा

रहा था। इसी गुप्तसमय का सबसे उज्ज्वल नक्षत्र था—स्कन्दगुप्त। उसके सिंहासन पर बैठने के पहले ही साम्राज्य में भीतरी बह्यत्र उठ खड़े हुए थे। तब ही आक्रमणकारी हूणों का आतंक देश में छड़ गया था और गुप्त-सिंहासन डीबाडोल हो पड़ा था। ऐसी दुरवस्था में शाही विपत्तियाँ सहते हुए भी बिच लोकोत्तर उत्साह और पराक्रम से स्कन्दगुप्त ने इस स्थिति से आर्य्य साम्राज्य की रक्षा की थी—यह कर नसों में बिकली बीड़ बाठी है। अन्त में साम्राज्य का एक-तुन अकर्मित्व मिलने पर भी उसे अपने बैराग्य और विरोधी मारि पुरगुप्त के लिए त्याग देना, तथा स्वयं आत्मन को मार-जीवन व्यतीत करने की प्रतिज्ञा करना, ऐसे प्रसंग हैं जो उसके महान् चरित्र पर सुग्भ ही नहीं कर देते, बल्कि बेर तक सहस्रों को कस्याखगर में निमग्न कर देते हैं।

कई कारणों से इस नाटक के निकलने में कुछ हफ्तों की बेर होगई। किन्तु उठनी ही देरी लाहित्य प्रेमियों को—जो इसके स्वागत के लिए लालापित हो रहे थे—असह्य हो उठी है। उनके तग्यदे-पर-तग्यदे आ रहे हैं, असह्य हम उनसे इत बेर के लिए बमा-थर्यी हैं।

भाबयी पूर्विया १८५

—प्रकारक

पुरुष-पात्र

- रघुवगुप्त—
 कुमारगुप्त—
 गोविन्दगुप्त—
 पर्णदत्त—
 चक्रपास्ति—
 बन्धुवर्मा—
 भीमवर्मा—
 मादगुप्त—
 प्रपञ्चबुद्धि—
 शवभाग—
 कुमारदास (धातुसेन)—
 पुरगुप्त—
 मटाक—
 पृथ्वीसेन—
 खिगिल—
 सुदगल—
 प्रख्यातकीर्ति—

- युवराज (विक्रमादित्य)
 मगध का सम्राट्
 कुमारगुप्त का भाई
 मगध का महानायक
 पर्णदत्त का पुत्र
 मालव का राजा
 बन्धुवर्मा का भाई
 काव्यकर्ता कालिदास
 वीर कापासिक
 अंतर्वेद का विषयपति
 सिद्धल का राजकुमार
 कुमारगुप्त का छोटा पुत्र
 नयीन महायलाधिष्ठ
 मन्त्री कुमारामात्य
 हय आक्रमणकारी
 चिदूपक
 लकाराज-कुल का भ्रमण,
 महापोष विहार-स्थविर

महाप्रतिहार, महारथनायक, गन्धी-ग्राम का दंडनायक
 प्रहरी, सैनिक इत्यादि

स्त्री-पात्र

वधकी—	कुमारगुप्त की बड़ी रानी— स्कंद की माता
अनन्तदेवी—	कुमारगुप्त की छोटी रानी— पुरगुप्त की माता
अयमाला—	वन्धुवर्मा की स्त्री—मासव की रानी
देवसेना—	वन्धुवर्मा की पत्नि
विजया—	मासव के घमकुबेर की कन्या
कमला—	मटाक की जन्मी
रामा—	शर्वनाग की स्त्री
मासिनी—	मादगुप्त की प्रसयिनी
	सखी, दासी इत्यादि

स्कन्दगुप्त

प्रथम अंक

[उज्जयिनी में गुप्त-साम्राज्य का संक्राणव]

स्कंदगुप्त— (टहलते हुए) अधिष्ठात-मुक्त कितना मादक और कारहीन है। अपने को नियामक और कर्ता समझने की बलाबली क्या उसके बेगार कराती है ! उत्सवों में परिवारक और अन्नो में दाल से भी अधिष्ठात-सोतुप मनुष्य क्या अभ्ये है ? (टहर कर) उँह ! वो कुछ ही, हम तो साम्राज्य के एक सैनिक हैं ।

पर्णदत्त— (प्रवेश करते) मुबराज की मय हो ।

स्कंदगुप्त— आय पणदत्त को अभिवादन करता हूँ । सेनापति की क्या आज्ञा है ।

पर्णदत्त— मेरी आज्ञा ! मुबराज ! आप सम्राट् के प्रतिनिधि हैं, मैं तो आज्ञाकारी सेवक हूँ । इस वृद्ध ने गण्डध्वज लेकर आय्य पन्नगुप्त की सेना का संवाहन किया है । जब भी गुप्त-साम्राज्य की नासीर-सेना में—उसी गण्डध्वज की छया में पवित्र धात्रबम्म का पावन करते हुए उसी के मान के लिए मर मिटूँ—यही कामना है । गुप्तकुल-भूषण ! आशीर्वाद दीजिए, इस पणदत्त की माता का स्तन्य लजित न हो ।

स्कंदगुप्त—आय ! आयकी बीरता की खेलमाका शिवा और सिंधु की लोहा लहरियों से कितनी जाती है, राजू भी उस बीरता की उपाहना करत हुए मुने जाते हैं । तब भी सन्दह !

पणदत्त—सदेह दो बातों से है मुबराज ।

स्कंदगुप्त—वे कौन-सी हैं ?

पर्यट्ट—अपने अभिकारों के प्रति आपकी उदासीनता और अयोध्या में नित्य नये परिवर्तन ।

स्कंदगुप्त—क्या अयोध्या का कोई नया समाचार है ?

पर्यट्ट—संभवतः सम्राट तो कुसुमपुर चला गये हैं, और कुमारमात्य महाबलाधिकृत वीरसेन ने स्वर्ग की ओर प्रस्थान किया ।

स्कंदगुप्त—क्या महाबलाधिकृत अब नहीं हैं ? शोक !

पर्यट्ट—अनेक समरों के विजेता, म्हापानी, गुप्त-साम्राज्य के महाबलाधिकृत अब इस लोक में नहीं हैं ! इधर प्रौढ़ सम्राट के विकास की यात्रा बट गई है !

स्कंदगुप्त—बिन्ता क्या ! आर्य ! अभी तो आप हैं, तब भी मैं ही सब बिन्तारों का भार वहन करूँ, अभिकार का उपयोग करूँ ! वह भी किस लिए ?

पर्यट्ट—किस लिए ? अस्त प्रजा की रक्षा के लिए, सतीत्व के सम्मान के लिए, देवता, ब्राह्मण और गौ की मर्यादा में विश्वास के लिए, आर्तक में प्रकृति का आरवासन देने के लिए आपको अपने अभिकारों का उपयोग करना होगा । पुराण ! इनीकिए मैंने कहा था कि आप अपने अभिकारों के प्रति उदासीन हैं, जिसकी मुझे बड़ी विन्ता है । गुप्त-साम्राज्य के मावी शासक को अपने उत्तरदायित्व का ध्यान नहीं !

स्कंदगुप्त—सेनापते ! प्रकृतिम्य होइए ! परम महारक महापद्म विराज अरबमेव पराक्रम श्रीकुमारगुप्त महन्द्रादित्य के मुशासित राज्य की मुनासित प्रजा को डरने का अरण्य नहीं है । गुप्त सेना की मयादा की रक्षा के लिए पर्यट्ट सह्य म्हावीर अभी प्रस्तुत हैं ।

पर्यट्ट—पट्टनीति, दायनिकता और कल्पना का लोक

नहीं है। इस क्रम में प्रत्यक्षवाद की समझा बड़ी कठिन होती है। गुप्त-साम्राज्य की उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ उसका दायित्व भी बढ़ गया है, पर उस बोझ को उठाने के लिए गुप्तकुल के शासक प्रस्तुत नहीं, क्योंकि साम्राज्य-लक्ष्मी को वे अब अनायास और अवश्य अपनी शक्ति आने वाली बन्धु समझने लगे हैं।

स्कन्दगुप्त—आर्य्य ! इतना व्यंग न कीजिए, इसके कुछ प्रमाण भी हैं ?

पणवृत्त—प्रमाण ! प्रमाण अभी खोजना है ! अभी आने के पहले आकाश जिस तरह स्तम्भित हो रहता है, बिबली गिरने से पूर्व जिस प्रकार नील बादमिनी का मनोहर आबरूस महाशून्य पर चत्र बाता है, क्या वैसी ही दशा गुप्त-साम्राज्य की नहीं है ?

स्कन्दगुप्त—क्या पुष्यमित्रों के युद्ध को देख कर बृद्ध सेनापति पकित हो रहे हैं ? (हँसता है)

पणवृत्त—सुबराज ! व्यंग न कीजिए । केवल पुष्यमित्रों के युद्ध से ही इतिहास न समझिए, म्लेच्छों के मयानक आक्रमण के लिए भी प्रस्तुत रहना चाहिए। चरों ने आज ही कहा है कि कविशा को श्वेत हृष्यो ने पराक्रमान्त कर लिया। तब पर भी सुबराज पूछते हैं कि 'अधिकारों का उपयोग किस लिए'। यहाँ 'किस लिए' प्रत्यक्ष प्रमाण है कि गुप्तकुल के शासक इस साम्राज्य को 'गले-पट्टी' बन्धु समझने लगे हैं।

(चक्रपातित का प्रवेश)

चक्रपातित—(दरकर) अरे सुबराज भी यही हैं ! सुबराज की शपथ हो ।

स्कन्दगुप्त—आओ चक्र ! आपसे पणवृत्त ने मुझे सब कुछ दिया है ।

शक्र०—पिताजी ! प्रबन्ध ! कैसी बात है ?

पर्य०—अस्वस्थ हो, आपुष्मान् ! तुम्हारे पुत्रराज अपने अधिपति से उदात्त हैं । वे पूछते हैं 'अधिपति किस लिए ?'

शक्र०—वात ! इस 'किस लिए' का अर्थ मैं समझता हूँ ।

पर्य०—क्या !

शक्र०—गुप्तकुल का अत्यवस्थित उत्तराधिपति-निवस ।

स्कन्दगुप्त—शक्र, छावना । तुम्हारे इस अनुमान का कुछ आधार भी है ।

शक्र०—पुत्रराज ! यह अनुमान नहीं है, यह प्रत्यक्ष-सिद्ध है ।

पर्य०—(गम्भीरता से) शक्र ! यदि यह बात ही सही, तब मैं तुमको प्यार रखना चाहिए कि हम लोग आपराध्य के सेवक हैं । असाधारण धान बालक ! अपनी अचक्षता को विष-बुद्ध का बीज न बना देना ।

स्कन्दगुप्त—आर्य्य पर्यन्त धमा क्रीडिए । हृदय की बातों पर राजनीतिक मापा में व्यक्त करना शक्र नहीं जानता ।

पर्य०—ठीक है, किन्तु उसे इतनी शीघ्रता नहीं करनी चाहिए (दलकर) शर आया है, कोई युद्ध का नया समाचार है क्या

(शर का प्रवेश)

'पुत्रराज की खबर हो !'

पर्य०—क्या समाचार है ?

शर—अब की बार पुष्पमित्रों का अन्तिम प्रयत्न है । अपनी समस्त शक्ति संकलित करके बढ़ रहे हैं । मातौर-सेना का नाम ने श्रावण मानी है । दरपुर में भी दूत आया है ।

स्कन्दगुप्त—अप्य, आओ, उस मेत्र दो ।

(शर जाता है, दरपुर के दूत का प्रवेश)

‘सुबराज महाराज की खबर हो !’

स्कंद०—मालवपति सकुण्डल हैं ?

दूत—कुण्डल आपके हाथ है। महापति विश्वकर्मा का शरीरान्त हो गया है। नवीन नरेश महापति बन्धुवर्मा ने कामिबादन भीमरथों में अन्दर सेबा है।

स्कंद०—खेद ! ऐसे समय में, जबकि हम लोगों को मालवपति से सहायता की आशा थी, वह स्वयं कौटुम्बिक आपत्तियों में पँस गये हैं।

दूत—इतना ही नहीं शक-पट्टमण्डल बंधल हो रहा है, नवा गल म्छन्दवाहिनी से सीराष्ट्र भी पदाग्रन्त हो चुका है, इसी कारण परिवर्ती माण्डव भी अब सुरक्षित न रहा।

(स्कंदयुक्त पर्यटन की ओर देखते हैं)

पण०—बलमी का क्या समाचार है ?

दूत—बलमी का पठन अभी रुका है। किन्तु बर्बर हथों से उसका बचना कठिन है। मालव की रक्षा के लिए महापति बन्धुवर्मा ने सहायता माँगी है। दरभपुर की समस्त सेना सीमा पर जा चुकी है।

स्कंद०—मालव और शक्युद्ध में जो सखि गुप्त-सायाम्य और मालव राष्ट्र में हुई है, उसके अनुसार मालव की रक्षा गुप्त-सेना का कर्तव्य है। महापति विश्वकर्मा के समय से ही सम्राट् कुमारगुप्त उनके संरक्षक हैं। परन्तु दूत ! बड़ी कठिन समस्या है।

दूत—विषय-व्यवस्था होने पर भी सुबराज ! सायाम्य ने संरक्षणा का भार लिया है।

पण०—दूत ! क्या तुम्हें विदित नहीं है कि पुष्पमित्रों से हमारा युद्ध चल रहा है ?

वृत्—तब भी मालव ने कुछ समझकर, किसी आशय पर ही, अपनी स्वतन्त्रता को सीमित कर लिया था ।

स्कन्द०—वृत् ! केवल सन्धि नियम ही से हम लोग बाध्य नहीं हैं, किन्तु शरणागत रक्षा भी क्षत्रिय का धर्म है । तुम विभ्रम करो । सेना पति पक्षदक्ष समस्त सेना लेकर पुष्पमित्रों की गति देखेंगे । अकेला स्कन्दगुप्त मालव की रक्षा करने के लिए सन्नद्ध है । जाओ, निर्मय निद्रा का मुख लो । स्कन्दगुप्त के जीते जी मालव का कुछ न बिगाड़ सकेगा ।

वृत्—बन्धु पुत्रपुत्र ! आर्य-साम्राज्य का माफी शासक के उत्पुत्र ही यह बात है । (प्रणाम करके जाता है)

पश्य०—पुत्रपुत्र ! आज यह युद्ध, हृदय से प्रसन्न हुआ । और गुप्त-साम्राज्य की शक्ति भी प्रसन्न होगी ।

सक०—वात ! पुष्पमित्र-मुद्र का अन्त तो समीप है । विजय निश्चय है । किसी दूसरे सैनिक की मेजिए । मुझे पुत्रपुत्र के साम जाने की अनुमति हो ।

स्कन्द०—नहीं सक, तुम विजयी होकर मुझसे मालव में मिलो । क्या रखना होगा कि राजधानी से अमी कोई सहायता नहीं मिलती । हम लोगों को इस आवम विपद में अपना ही भरोसा है ।

पश्य०—कुछ चिन्ता नहीं पुत्रपुत्र ! भगवान् सब मंगल करेंगे, अतिए, विभ्रम करें ।

[पट-अन्तिम]

[कुमुदपुर के राज-मन्दिर में सम्राट् कुमारगुप्त और उनके परिषद्]

धामुसेन—परम महारक ! आपने भी स्वयं इतने बिकट युद्ध किया है । मैं तो समझ था, राजस्थान पर बैठे-बैठे एबदद रिक़ा देने से ही इतना बड़ा गुन्त-ठासाम्य स्थापित हो गया था, परन्तु—

कुमारगुप्त—(हँसते हुए) तुम्हारी लंका में अब पक्ष नहीं रहते ! क्यों धामुसेन !

धामुसेन—पक्ष यदि कोई था तो विभीषण और बन्दरों में भी एक सुभीष हो गया था । दक्षिणायन आज भी उनकी कर्जनी का पक्ष भोग रहा है । परन्तु हाँ, एक आपत्तय की बात है कि महामान्य परमेश्वर परम महारक की भी युद्ध करना पड़ा ! राम चन्द्र ने तो, मुना था, जब वे युवराज भी न य तमी युद्ध किया था । सम्राट् होने पर भी युद्ध !

कुमार०—युद्ध तो करना ही पड़ता न । अरुनी सत्ता बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है ।

धामु०—अच्छा तो स्वर्गोंव धाय छुद्रगुप्त ने दशपुत्री तक का राम्य-विदय किया था, तो उनका लिए परम आवश्यक था ! क्या पाटलीपुष फ तमीर ही रह पाय् था ?

कुमार०—तुम भी बालि की सेना में से कोई बच हुए हो ।

धामु०—परम महारक की अब हो ! बालि की सेना नहीं, और बद युद्ध न था । जब उन्होंने लख्खु खाने वाले सुभीष निष्कल पने, तब फिर—

कुमार०—क्यों ?

धामु०—उनकी पत्नी सुन्दर मीमा में लख्खु अच्युत मुगोमित होता था, और सबसे बड़ी बात तो यी बालि के लिए—उनकी लाय का मंत्रिन्व । मुना है सम्राट् ! स्त्री का मंत्रया पड़ी अच्युत्त

और उपसोगी होती है, इसीलिए उन्हें राज्य की मंजूरी से ही प्रसूती मिल गई। परम भद्रार्थ की इच्छा ! एक स्त्री को मंत्री आप भी बना ले, बड़े-बड़े दाढ़ी मूँहवाले मंत्रियों के बदले उसकी एकमात्र मंत्रणा कस्याणकारिणी होगी।

कुमार०—(हँसते हुए) लेकिन पृथ्वीसेन तो मानते ही नहीं।

धाम्नु०—तब मेरी सम्मति से वे ही कुछ दिनों के लिए स्त्री हो जायें, क्यों कुमारमात्मजी !

पृथ्वीसेन—पर तुम तो स्त्री नहीं हो, वो मैं तुम्हारी सम्मति मान लूँ ?

कुमार०—(हँसता हुआ) हाँ, तो आर्य्ये समुद्रगुप्त को विषय होकर उन विद्रोही विदेशियों का दमन करना पड़ा, क्योंकि मौर्य साम्राज्य के समय से ही सिन्ध के उस पार का देश भी भारत साम्राज्य के अन्तर्गत था। अगस्तिसैना विक्रमर के सेनापति विस्फुक्त से उस प्रांत को मौर्य साम्राट् अन्तर्गुप्त में सौंपा था।

धाम्नु०—फिर तो लड़कर ले लेने की एक परम्परा ही कम जाती है। उनसे उन्होंने, उन्होंने उनसे, ऐसे ही लेते थले आये हैं। उसी प्रकार आर्य्य !

कुमार०—उँह ! तुम समझते नहीं। मनु मे इतकी व्यवस्था की है।

धाम्नु०—नहीं परमावधार ! समझ में तो इतनी बात आ गई कि लड़कर ले लेना ही एक प्रधान स्वत्व है। संसार में इसी का बोलबाला है।

भद्रार्थ—अभी तो क्या रोने से भीख माँगते से कुछ अधिकार मिलता है ! जिसके हाथों में बल नहीं, उसका अधिकार ही क्या ! और यदि माँगकर मिल भी जाय, तो शान्ति की रक्षा कौन करेगा ?

मुद्गल—(प्रवेश कर के) रघु पेट कर लेगा, कोई दे नी तो । अघ्न तूरी, अघ्न कबल लु लोगो ने मुना होगा , परन्तु इस अघ्न मंशुग क हाल मेरे विबा कोई नहीं जानता । इसके मीतर कुछ रक्तकर देखो, मैं कैसी शक्ति से बैठा पड़ा हूँ ।

(पद्यासन से बैठ जाता है)

पृथ्वीसेन—यत्न महारक की बय हो । मुझे कुछ निवदन करना है—यदि आजा हो तो ।

कुमार०—हाँ, हाँ कहिए ।

पृथ्वीसेन—शिमा के इस पार साम्राज्य का स्तम्भाकार स्थापित है । मालवेश का वृत मी आ गया है कि 'हम ससैन्य पुषराज के सहायकार्य प्रस्तुत हैं ।' महानायक पर्यादक्ष ने मी अनुकूल समाचार मेबा है ।

कुमार०—मालव का इस अभियान से कैसा भाव है, कुछ पता बला । क्योंकि यह मुद्ग तो जान-बूझकर खेड़ा गया है ।

पृथ्वी०—अग्ने मुक्त से मालवेश मे वृत से यहाँ तक क्या या कि पुषराज की कष्ट देने की क्या आवश्यकता थी, आजा पाने ही से मैं स्वयं इसे ठीक कर लता ।

कुमार०—महासिप-विपरिक । लक्षु ! यह बंश-वत्स्यरागत गुहारी ही बिजा है ।

पृथ्वीसेन—उम्माद् के भी परशो का प्रताप है । सीराष्ट्र से मी नवीन समाचार मिलाने वाला है । इतीतिर पुषराज की बहाँ भेजने का मेरा अनुरोध था ।

भटारक—सीराष्ट्र की गति बिधि देखने के लिए एक रथरथ सेनापति की आवश्यकता है । बहाँ तक राष्ट्र बड़ा बखल भ्रम च मवानक है ।

पृथ्वीसेन—(गूढ़ दृष्टि से देखते हुए) महावकाबिहठ । याव

व्यक्तता होने पर आपको यहाँ आना ही होगा, टल्कपटा की आश
व्यक्तता नहीं।

मटार्क—नहीं, मैं तो

कुमार०—महाबलाधिकृत ! तुम्हारी स्मरणीय सेवा स्वीकृत
होगी। अभी आवश्यक्ता नहीं।

धातुसेन—(हाय जोड़ कर) वहि दक्षिणापथ पर आक्रमण का
आयोजन हो तो मुझ आजा मिले। मध्य भर पास है, मैं जाकर
स्वच्छन्दता-पूवक लेट रहूँगा, संना को भी कष्ट न होने पावेगा।

(सब हँसते हैं)

मुद्गल—जब हो देव ! पाक्याशा पर चर्चार्ज करनी हो तो मुझे
आजा मिले। मैं अभी उलफा बवंस्थान्त कर रहा हूँ।

(फिर सब हँसते हैं। गम्भीर भाव से अभिवादन करते हुए—
एक ओर पृथ्वीसेन और दूसरी ओर मटार्क का प्रस्थान।)

कुमार०—मुद्गल ! तुम्हारा कुछ

मुद्गल—महादेवी ने प्रार्थना की है कि जबकि मटार्क की
कल्पराज-कमना के लिए पकपाथि मयमान् की पूजा की सब सामग्री
प्रस्तुत है। प्रार्थ्यपुत्र का चलेगा।

कुमार०—(मुँह बनाकर) आज तो कुछ पारसीक नतकियाँ
आने वाली हैं, आपानक भी है। महादेवी से कह देना, अथन्दुष्ट न हो,
कल चलेगा। समझ न मुद्गल !

मुद्गल—(लड़ा हाकर) परमेश्वर परम भट्टारक की भय हो।

(जाता है)

धातुसेन—वह काशक्य कुछ भाँग पीता था। उसने लिखा है
कि पाण्डुभ मेड़िये हैं, इनमे पिता को छोड़ कर सबानत एसा चाहिए।

कुमार०—एक उप-नीति है।

(अनन्तदेवी का पुनर्वास प्रवेश)

धातु०—भूल गया। उसके बरखे उस ब्राह्मण की लिखना या
के पात्र लोग प्याह ही न करें, क्यों मेकियों-सी सन्तान उत्पन्न हो ?

अनन्तदेवी—(सामने आकर) आर्य्यपुत्र की अय हो।

(धातुसेन मयमीत होने का-सा मुँह बनाकर पुन हो जाता है)

कुमार०—आओ प्रिये। तुम्हें खोज ही रहा था।

अनन्त०—नतकियों को भुलवाती था रही हूँ। कुमाधमात्स्य
आदि वे, संभवा में बाधा समझकर, आन-भूमकर देर लगाई। आपकी
तो देवती हूँ कि अबकरा ही नहीं।

(धातुसेन की ओर क्रुद्ध होकर दंस्तरी है)

कुमार०—यह अशोष विदेशी हँसोड़ है।

अनन्त०—तब भी सीमा होनी चाहिए।

धातु०—बायक्य का नाम ही कौटिल्य है। उनके सुत्रों की
प्याख्या करने काकर ही यह पद्य मिला। घुमा मिले तो एक बात
और पूछ लूँ क्योंकि फिर इस विषय का प्रश्न न करूँगा।

अनन्त०—पूछ लो।

धातु०—उसके अनयशास्त्र में विषयन्या का

कुमार०—(डाटकर) पुन रहो।

(नतकियों का गाते ए प्रवेश)

न छेड़ना उस अतीत स्मृति से

लिपे हुए बीन-तार कोकिल

करुण्य रागिनी तड़प उठेगी

सुना म पेसी पुकर कोकिल।

हृदय धूल में मिला दिया है

उसे चरण-चिह्न-सा दिया है

लिखे पूस सब गिरा दिया हे
न अब पसन्ती बहार कोकिल ।

सुनी बहुत आनन्द-मीरषी
विगत हो चुकी निशा-भाषणी
रही न अब शारदी कैरषी
न तो मया की फुहार कोकिल ।

न खोज पागल मधुर प्रेम को
न तोड़ना और के मेम को
बचा बिरह सौन के क्षेत्र को
फुपास अपनी सुधार कोकिल ।

[पट-परिचय]

[पद्म में यादगुप्त]

मातृ०—कविता करना अनन्त पुण्य का फल है। इस दुपरा घोर अनन्त उत्कण्ठा से कवि-जीवन व्यतीत करने की इच्छा हुई। संसार के उमस्त आभाओं को अकन्तोप कहर हृदय को बोला बैठा रहा। परन्तु कैसी विह्वलता! लक्ष्मी के लालों पर अमूर्त और घोर की आका के अतिरिक्त मित्रा क्या?—एक अस्पष्टिक परासनीय जीवन, जो कि दूसरों की दृष्टि में अपना अस्तित्व रखता है। उचित हृदय-कोप के अमूर्त उजों की उदात्ता, और दारिद्र्य का व्यंग्यात्मक कठोर आघात, दोनों की विषमता की अनेक-सी व्यवस्था होगी। मनोरथ को—भारत के प्रप्रसन्न बौद्ध परिचित को—परास करने में मैं भी सब की परास का भाजन बना। परन्तु हुआ क्या?

(मुद्गल का प्रवेश)

मुद्गल—कहिए कविजी! आप तो बहुत दिनों पर दिखारि पड़े। कुतपति की कृपा से कहीं अप्यापन-धर्म मित्र गया क्या?

मातृ०—मैं तो अभी भी ही बैठा हूँ।

मुद्गल—क्या बैठे-बैठे काम पक जाता है? तब तो मारि, तुम बड़े साम्प्रदान हो। कविता करते हो न? मारि! उसे छोड़ दो।

मातृ०—क्यों? वही तो मेरे मूले का आहार है। कवि—व्यस्य चित्र है, जो स्वर्गीय याव-मूर्त संगीत गाय करता है। आधकार का आलोक से, अस्त का अस्त से, अङ्क का चेतन से, और आत्म अस्त का अन्तःकाल से सम्पन्न अनेक कराती है। कविता ही न!

मुद्गल—परन्तु हाथ का मुख से, पेट का अम स और आँखों

अब निद्रा से भी सम्बन्ध होता है कि नहीं ? इसको भी कमी सोच-विचार है ।

मातृगुप्त—संसार में क्या इतनी ही बलपूर्वक विचारने की है पशु भी इनकी विन्ता कर लेते होये ।

मुद्गल—और मनुष्य पशु नहीं है, क्योंकि उसे बाँधे बनाना आता है—अपनी मूर्खताओं को क्षिप्ताना, पापों पर बुद्धिमानों का आचरण चढ़ाना आता है । और बाग्माल की घाँस उसके पास है । अपनी धीरे-धीरे आवश्यकताओं में कृत्रिमता बढ़ा कर, समय और पशु से कुछ ऊँच दिखाने मनुष्य, पशु बनने से बच जाता है ।

मातृगुप्त—होगा, तुम्हारा तात्पर्य क्या है ?

मुद्गल—स्वप्न-मय जीवन छोड़ कर विचार-पूर्वक बालमिथ्या रीति में आओ । ब्राह्मण-कुमार हो, इसीलिए दया आती है ।

मातृगुप्त—क्या करूँ ?

मुद्गल—मैं दो-चार दिन में अवन्ती जाने वाला हूँ, पुष्कर मशरूफ के पास तुम्हें रखवा दूँगा । अच्छी वृत्ति मिलाने का साधक है स्वीकार !

मातृगुप्त—पर तुम्हें मेरे ऊपर इतनी दया क्यों ?

मुद्गल—तुम्हारी कृत्रिमता देखकर मैं प्रसन्न हुआ हूँ । उसी दिन से मैं खोजता था । तुम जानते हो कि रातकृपा का अपिहारी होमे के लिए समय की आवश्यकता है । बड़े लोगों का एक बड़ा पारणा होती है कि, 'अमी टकड़ने दो देख बहुत आमा-शाप करते हैं ।'

मातृगुप्त—तब तो बड़ी कृपा है । मैं अवश्य चलूँगा । बापनी मंडल में हूँ अर्थात् अर्थ है, शास्त्र और संस्कृत-विद्या का कोई पूछना जाता नहीं । म्लेच्छाश्रित देख छोड़कर राजधानी में चला आया था अब आप ही मेरे पद-मदक है ।

सुदृगल—अच्छा तो मैं जाता हूँ, चीम ही मिलूँगा। तुम
 जाने के लिए प्रस्तुत रहना। (जाता है)

मातृगुप्त—काशमीर! अन्मभूमि। जिसकी धूलि में लोट कर
 के होना सीला, जिसमें गल-खेलकर पिघा प्राप्त की, जिसमें
 जीवन के परमाणु संगठित हुए थे, वही झूट गया। और जिसमें
 एक मनोहर स्वप्न, आह! वही जो नरे इस जीवन-वय
 का पायेय रहा।

शिय।
 संसृति के वे सुन्दरतम क्षण यों ही मूल नहीं जाना।
 'बह उष्वृद्धलता भी अपनी—बहकर मन मत पहलाना।
 मादकता-सी तरल हँसी के प्याले में उठती लहरी।
 मेरे निश्वासों से उठकर ऊपर भूमने को ठहरी।
 मैं व्याकुल परिरम्म-मुकुल में बन्दी अलि-सा कंप रहा।
 क्षणक उद्य प्याला, लहरी में मेरे मुल को नाप रहा।
 नबग मुक्त सीदर्ष्य हुआ, हो पपल चली मौहे मिलने।
 लीन होगइ लहर, लगे मेरे ही नल छाती दितने।
 श्यामा अ नलदान मनोहर मुग्धाओं से प्रथित रहा।
 जीवन के उस पार उड़ाता हँसी, लड़ा मैं शक्ति रहा।
 तुमने अपनी निपूर ब्रीड़ा के प्रम से, बहकरने से।
 मुली हुए फिर लगे देखने मुझे पदिक पहचाने-मे।
 उस मुल अ आलिंगन करने कमी मूलकर आ जाना।
 मिलन-द्विज-वट मधु जलनिधि में मृदु हिलकोर उठा जाना।
 शुम्भारदास—(प्रवेश करके) साधु।

मातृगुप्त—(अपनी मापना में तल्लीन जैसे छिमी को न दख
 रहा हा) अमृत के तपोपर में स्वय-कमल लिप्त रहा पा,

अमर बंगी बना था था, औरम और पणम की चरल-प्रल
 थी। तबेरे सूर्य की किरणें उसे घूमने को लोटती थीं, सन्धा में
 शीतल चाँदनी उसे अपनी चादर से ढँक देती थी। उस मधुर
 सौन्दर्य, उस अतीन्द्रिय बगल की छाया कल्पना की ओर मैंने
 हाथ बढ़ाया था,—वही स्वप्न टूट गया !

कुमारदास—समक में न आना, खिल में और अशमीर
 में क्या भेद है। तुम गौरवर्ध हो, लम्बे हो, खिची हुई भीड़े हैं ;
 ठब होने पर भी खिखियों की धुपराही लट्टे, उष्णता क्या
 शरीर, क्या स्वप्न में देखने की वस्तु नहीं !

मातृगुप्त—(कुमारदास का जैसे सहसा दंतकर) पृथ्वी की
 समस्त आत्मा को जहाँ प्रकृति ने अपने बर्तन के आकार से ढँक
 दिया है, उस हिमालय के—

कुमारदास—और बड़बानल को अनन्त बलपण से जो
 क्लुष्ट कर रहा है, उस प्लानक को—अच्छा जाने दो रत्नाकर
 भीषा है, गहरा है। हिमालय ऊँचा है, गर्भ से सर उठाये है, ठब
 जय हो काशमीर की। हाँ उस हिमालय के.

मातृगुप्त—उस हिमालय के ऊपर प्रभात-सूर्य की मुनहरी
 प्रभा से आलोकित प्रभा का, पीले पोखराज का-सा, एक महल का।
 उठी स नबनीत की पुठली भौंककर बिम्ब को देखती थी।
 वह दिन की शीतलता से मुर्तमठित थी। मुनहरी किरणों को बलन
 हुई। तप्त होकर मरल को गला दिया। पुठली ! उठकर मंगल
 हो, हमारे अमु की शीतलता उसे मुरदित रल। कल्पना की
 माया के पल गिर जाते हैं, मौन-नीड़ में निवास करने दो।
 हैनो मत मित्र !

कुमारदास—तुम विद्वान् हो, मुक्ति हो, इतना मोह !

मातृगुप्त—यदि यह विषय इन्द्रयाज्ञ ही है, तो उस इन्द्र जाली की अनन्त इच्छा को पूर्ण करने का साधन—वह मयुर मोह विरज्जीवी हो और अमिताया से मन्वतने वाले भूले हृदय को आहार मिले ।

कुमारदास—मित्र ! तुम्हारी कोमल कस्मना, बागी की बीया में झनझर उत्पन्न करेगी । तुम सचेष्ट बनो, प्रतिमाशाली हो । तुम्हारा मविष्य बड़ा उम्भक्त है ।

मातृगुप्त—उसकी चिन्ता नहीं । दैन्य जीवन के प्रचण्ड आतप में सुन्दर स्नेह मेरी छाया बने । मुखाका हुआ जीवन पन्थ हो जायगा ।

कुमारदास—मित्र ! इन थोड़े दिनों का परिचय मुझ आजीवन स्मर्य रहेगा । अब तो मैं सिद्धत जाता हूँ—देख की पुकार है । इतिहास में स्वप्नों का वेश 'भ्रम-भारत' छोड़ता हूँ । कबिबर । इस धीण-परिचय कुमार घातुसेन को भूलना मत—कभी घाना ।

मातृगुप्त—तम्राद् कुमारगुप्त के सखर, विनीदरील कुमार दास ! तुम क्या कुमार घातुसेन हो !

कुमारदास—हाँ मित्र, लंका का पुत्रपुत्र । हमारा एक मित्र, एक बाल-सहचर, प्रख्यातकीर्ति, महावीरि-निहार का भ्रमण है । उस और गुप्त-शास्रास्य का वैभव देखन पम्पटक के रूप में भारत भला आया था । गौतम के पद रज से पवित्र मृत्ति को छूष देना और देखा इर्ष से उद्धत गुप्त-शास्रास्य के तीसरे पर का त्प्य । आर्य्य भ्रमुन्वान का यह स्मरणीय पुग है । मित्र, परिषतन उनरियत है ।

मातृगुप्त—तम्राद् कुमारगुप्त के शास्रास्य में परिषतन !

घातुसेन—सकल पुत्रक ! इस गतिरील जगत् में परिषतन पर

आदर्श ! परिपतन रुका कि महापरिवर्तन—प्रलय—हुआ ! परिपतन ही सन्धि है, जीवन है। स्थिर होना मृत्यु है, निरपेक्ष शान्ति मरण है। प्रकृति क्रियाशील है। समय पुरुष और स्त्री की गैर जाकर दोनों हाथ स खेलता है। पुरुष और स्त्रीलिंग की समन्वित अभिव्यक्ति की कुंजी है। पुरुष उच्छ्वस दिया जाता है, उल्लेख्य होता है। स्त्री आकर्षण करती है। स्त्री वह प्रकृति का चतन चरित्र है।

मातृगुप्त—निस्सन्देह। अनन्तदेवी के इशारे पर कुमारगुप्त नाच रहे हैं। अद्भुत परेकी है।

धातुसेन—सखी ! यह भी चरित्र ही है। पुरुष है—कुहरल और प्रश्न, और स्त्री है विश्लेषण, उत्तर और सब बातों का समाधान। पुरुष के प्रत्येक प्रश्न का उत्तर देने के लिए वह प्रस्तुत है। उसके कुहरल—उसके अभावों का परिपूर्णा करने का ठग्य प्रश्न और शीतल उपचार। अभावा मनुष्य रुन्धुट है—सबको के समान। पुरुष ने कहा—'क', स्त्री ने चरित्र लगा दिया—'शोका', वह, वह रटने लगा। विषय-विह्वल बूढ़ समाह, तखली की आकांक्षाओं के साधन बन रह हैं। काल मेघ क्षितिज में एकत्र हैं, शीम ही अन्यकार होगा। पञ्च आशा का केन्द्र प्रबुधता एक सुबुधता 'अकंद' है। निर्मम शून्य आकाश में शीम दो अनेक चरित्र के मेघ रंग मरेगे। एक विह्वल अभिनय का धारण होनेवाला है। हम भी सम्भवत उसके अभिनेताओं में से एक होंगे। सावधान ! विह्वल तुम्हारे लिए प्रस्तुत है।
(प्रस्थान)

मातृगुप्त—विचक्षण उदार राजकुमार !

[प्रस्थान]

[अनन्तदर्शी का सुसज्जित प्रकोष्ठ]

अनन्तदेवी—जया ! तबि का द्वितीय प्रार तो व्यतीत हो रहा है, अभी मटाक के जाने का समय नहीं हुआ !

जया—स्वामिनी ! आप बड़ा मयानक खेल खेल रही हैं ।

अनन्त०—सुदृढ़ हृदय—जो चूहे के शब्द से भी संकित होते हैं, जो अपनी सोंप से ही चीक उठते हैं, उनके लिए उभ्रति का इंद्रकिंत माग नहीं है । महत्वाकांक्षा का दुर्गंध स्वर्ग उनके लिए स्वप्न है ।

जया—परन्तु राजकीय अन्त पुर की मर्यादा बड़ी कठोर अथवा फूल में कोमल है ।

अनन्त०—अग्नी नियति का पय में अपने पैरों चलूंगी, अग्नी शिक्षा देने दे ।

(जया कपाट के समीप कान लगाती है, संकेत होता है, गुप्त द्वार खुलते ही मटाक सामने उपस्थित होता है ।)

मटाक—महादेवी की जय हो !

अनन्त०—परिहास न करो मयम के महाबलानिहृत ! वेवकी के रहते किम साहस से तुम मुझे महादेवी कहते हो !

मटाक—इमारत हृदय कह रहा है, और आये तिन राज्ञाय की अनन्ता, मन्ना, समी कहेगी ।

अनन्त०—मुझे विश्वास नहीं होता ।

मटाक—महादेवी ! कल सम्राट के समक्ष जो चिट्ठे और पत्र-बाण मुझपर बरसाये गये हैं, वे अन्तमूल में गड़े हुए हैं । अन्त निकालने का प्रयत्न नहीं करूँगा, वे ही मापी चिट्ठे में समाप्त होंगे । तुम-तुमकर वे मुझे लक्ष्य करेंगे । मैं उन 'अन्तमूल' का अनुसरण करूँगा । बाहुबल से, पीरना के इन अन्तमूल प्रत्येक पराक्रमी ने ही मुझ मयम के अन्तमूल के

माननीय पद मिला है ; मैं उठ सम्मान की रक्षा करूँगा । महादेवी ! आज मैंने अपने हृदय के मार्मिक रहस्य का अफ़सार् उद्घाटन कर दिया है । परन्तु वह भी जान-बूझकर—छमझकर ! मेरा हृदय शूलों के लौहफ़लाक खूने के लिए है, सूत्र विप-बान्ध-वास के लिए नहीं ।

अमन्त०—तुम बीर हो मयर्क ! यह तुम्हारे उपयुक्त ही है । इसकी ध्र प्रभाव जित उमत्ता से बढ़ रहा है, उते बेसकर मुझे पुरगुप्त के जीवन में शंका हो रही है । महाबलाधिकृत, दुर्बल माता का हरक उसके लिए आज ही से चिन्तित है, विफल है । सबाद की मति एक-ही नहीं रहती, वे अम्बवस्थित और संवत है । इस अयस्था में ब बिलास की अधिक मात्रा से केवल जीवन क बटिका तुम्हो की गुत्तियाँ तुल्यभने में स्थित है ।

मयर्क—मैं एक समझ रहा हूँ । पुष्पमित्रों के मुख में मुझे सेनापति की पदवी नहीं मिली, इसका कारण भी मैं जानता हूँ । मैं वृष पीनेवाला शिशु नहीं हूँ । और यह मुझे स्पष्ट है कि पुष्पीसेन के विरोध करने पर भी आपकी कृपा से मुझे महाबलाधिकृत का बंद मिला है । मैं कृतज्ञ नहीं हूँ महादेवी ! आप निश्चिन्त रहें ।

अमन्त०—पुष्पमित्रों के मुख में मेजने के लिए मैंने भी कुछ समझकर उद्योग नहीं किया । मयर्क ! अन्ति उपरिष्ठ है, तुम्हारा धर्य रचना आवश्यक है ।

मयर्क—अन्ति के सहता इतना समीप उपस्थित होमै के तो कोई लक्षण मुझ नहीं दिखाई पड़ता ।

अमन्त०—राजधानी में अन्द-बिलास हो रहा है, और पारसीक मदिष की बाध बढ़ रही है, इनक स्थान पर रक्त की बाध बहेगी ! आज तुम जालागुद के मन्ध घूम स अनुष्ट हो रहे

हो, बल इन उष सौध-मन्दिरों में महापिशाची की विप्लव
बनाया धरकेगी। उस विरायेंध की उत्कट गन्ध असह्य होगी।
तब द्रुम मयर्क! उस आगामी सख-मलय के लिए प्रस्तुत हो कि
नहीं! (ऊपर देखती हुई) उई, प्रपंचबुद्धि की कोई बात आज तक
मिथ्या नहीं हुई।

मटार्क—कौन प्रपंचबुद्धि!

अनन्त०—सूचीभेष अपिहार में क्षिपनेवाली परस्फुटी
नियति का—प्रत्यक्षित कठोर नियति का—नील आवरण उठाकर
कौंकने वाला। उसकी आँसों में अमिचार का संकेत है, मुम्कपट्ट
में विनाश की सूचना है, आँवियों से सेखता है, बाँठे करता है—
वित्रलियों से आश्लिग्न।

(प्रपंचबुद्धि का सहसा प्रवेश)

प्रपंचबुद्धि—स्मरण है मात्र की अमायस्या!

(मयर्क और अनन्तदेवी सहमकर हाथ जोड़ते हैं)

अनन्त०—स्मरण है, मित्रु-शिरोमणे। उसे मैं मूल सक्तों हूँ।

प्रपंच०—कौन, महाबलप्रधिकृत हैं हैं हैं हैं, तुम छाग सद्रंम
के अमिशाप की लीला देखोगे, है आँसों में इतना बल? क्यों,
कमक लिया था कि इन मुचिद्धत-मस्तक अीर्ष्य क्लेशर मित्रु
कँहालों में क्या पण है! देखो—शय चिता में नून्य करती हुई
ताप का तापद्वय नृत्य, शुन्म सपनाशकारिणी प्रकृति की मुचर
माशाओं की कन्दुक-कौंका। अरबमेष हो चुके, उनके परलम्बन्प
महानरमेष का उपसंहार भी देखी (देखकर) है तुममें—नू कनेगा!
अच्छ महादेवी! अमायस्या के पहले पहर में, अब नील गगन से
भयानक और उग्मल उस्कापात होया, महाशून्य की ओर देखना।
जाता हूँ। साधन।

(प्रस्थान)

पृथ्वीसेन—इतना परिखाम मयानक है । अन्तिम शय्या पर लटे हुए सम्राट् की आत्मा को कष्ट पहुँचाना होगा ।

महाप्रति०—अच्छ (कुछ दल कर) ही, शर्बनाग नहीं गया ।

नायक—उसे मन्त्रावलाचिफ्त ने वृद्धरे त्याग पर मेका है ।

महाप्रति०—(क्रोध से) मूर्ख शर्बनाग !

(अन्तःपुर से प्राण कन्दन)

महादण्डनायक—(क्रम लगा कर सुनते हुए) क्या सब खेप हो गया । हम अवश्य भीतर जायेंगे ।

(तीनों तलवार लीच लेते हैं, नायक भी सामने आ जाता है,

झार लोलकर पुरगुप्त आर मटार्क का प्रवेश)

पृथ्वीसेन—मटार्क ! क्या सब क्या है !

मटार्क—(तलवार लीचकर छिर से खगाता हुआ) परम महारक राजाधिराज पुरगुप्त की जब हो ! माननीय कुमारमात्य, महादण्डनायक और महाप्रतिहार साम्राज्य के नियमागुठार, राज्य अर्पण करके परम महारक का अभिवादन कीजिए ।

(तीनों एक दूसरे का मुँह देखते हैं)

महाप्रतिहार—तब क्या, सम्राट् कुमारगुप्त महेन्द्राशिस आ संघार में मही हैं ?

मटार्क—नहीं ।

पृथ्वीसेन—परन्तु उधराधिकारी पुबधर स्कन्दगुप्त !

पुरगुप्त—बुन रहो । तुम लागो को बैठ कर व्यवस्था नई बेनी होगी । उधराधिकारी का निर्णय स्वयं स्वर्गीय सम्राट् का गये हैं ।

पृथ्वीसेन—परन्तु प्रमाथ ?

पुरगुप्त—क्या मुझे प्रमाथ बना होगा ?

पृथ्वीसेन—अवश्य !

पुरगुप्त—महाबलाधिकृत ! इन बिद्रोहियों को बन्दी करो !
(मटारक आगे बढ़ता है)

पूर्य्यासेन—दरद मयक ! तुम्हारी बिबय हुई, परन्तु एक
बात

पुरगुप्त—आधी बात भी नहीं, बन्दी करो ।

पूर्य्यासेन—कुमार ! तुम्हारे हुबल और छत्याचारी हाथों में
गुप्त-साम्राज्य का राजदरद टिकण्य नहीं । सम्भवत तुम साम्राज्य
पर बिबयि का आबाहन करोगे । इसलिए कुनार ! इससे बिबत हो
आओ ।

पुरगुप्त—महाबलाधिकृत ! क्यों बिबल्य करते हो !

मटारक—आप लोग यस्त्र रत्त कर आस्य मानिए ।

महाप्रतिहार—आततायी ! यह स्वर्गीय आम्प्य अन्त्रगुप्त का दिया
हुआ कर्ण तेरी आहा से नहीं रक्ता जा सकता । उठा अन्ना यम्प,
और अन्नी रक्षा कर ।

पूर्य्यासेन—महाप्रतिहार ! साबधन ! क्या करते हो ! यह अन्तर्बि-
द्रोह का समय नहीं है ! पश्चिम और उत्तर से काली
बयाई उमड़ रही है, यह समय बल-नाश करने का नहीं है ।
आओ, हम लोग गुप्त-साम्राज्य का बिधान अनुसार परम प्रतिकार
करें । बलिदान देना होगा । परन्तु मयक ! बिने तुम ऐल
समक कर हाथ में ले रहे हो, उस काल मुबंगी उप्रनीति की—
प्राय देकर भी—रक्षा करना । एक नहीं, सौ स्वरगुप्त उस पर
न्योद्वर है ! आम्प्य-साम्राज्य की अय हो ! (घुरा मार
कर गिरता है, महाप्रतिहार और दरदबानायक भी बैसा हो करते
हैं ।)

पुरगुप्त—दरदरद स्वयं बिदा हो गये—अन्त्र ही हुआ ।

मटारक—परन्तु मूल हुई । ऐल स्वानिमक्य अंपक !

स्वर्गगुप्त

पुरगुप्त—कृष्ण नहीं (भीतर जाता है) ।

भयार्क—तो जायें, सब जायें, गुप्त-साक्षात् के हीरो के
उत्सव-हृदय बीप, मुझमें आ छुद रहत, सब मेरी प्रतिहिवा पक्षती
लिए बलि हो !

(नगर प्रान्त में पय)

मुद्गल—(प्रवेश करके) किसी के सम्मान सहित निमंत्रण देने पर, पवित्रता से हाथ-पैर धोकर चौके पर बैठ जाना—एक दूसरी बात है, और मटकते, पकते, उड़कते, सूदत, ठोकर खाते और छुड़कते—हाथ-पैर की पूजा करते हुए मार्ग चलना—एक मिष्ट बस्तु है। कहीं हम, और कहीं यह दीड़, कुसुमपुरी से अन्नन्ती और अन्नन्ती से मूलम्बान ! इस बार की आशा तो चलन करता हूँ, परन्तु, यदि तय्यारि, पुनरुच, फिर मी, कमी ऐसी आशा मिली कि इस ब्राह्मण ने साष्टांग प्रणाम किया। अष्टा, इस वृद्ध की छाया में बैठ कर विचार कर लें कि सेकड़ों योजन लौट चलना अष्टा है कि थोड़ा और चल कर काम कर लेना।

(गठरी रस घँट कर ऊँघने लगता है मातृगुप्त का प्रवेश)

मातृगुप्त—मुझे तो मुबराज ने मूलम्बान की परिस्थिति सँभालने के लिए भेजा, देखता हूँ कि यह मुद्गल भी यहाँ आ पहुँचा ! चलो, इसे कुछ तंग करें, थोड़ा मनोविनोद ही लही।

(कपड़े से मुँह दिखाकर, गठरी खींचकर चलता है)

मुद्गल—(उठकर) टहरो मार्ग, हमारे जैसे साधारण लोग अन्नन्ती गठरी घाव ही टोत है, गुम कष्ट न करो। (मातृगुप्त बककर कूटता है, मुद्गल पीछे-पीछे दाड़ता है।)

मातृगुप्त—(दूर सड़ा हाकर) अब आगे बडे कि तुम्हारी टाँग टूटी !

मुद्गल—अन्नन्ती गठरी बचाने में टाँग टूटना बुरा नहीं, अन्नन्तुन नहीं। गुम दर न समझना कि हम दूर चलने-बसते थक गये हैं। तुम्हारा पीछा न छूटगा। हम ब्राह्मण हैं, हमसे शास्त्रार्थ कर लो। बरदा न दिखाओ। हाँ, मरी गठरी को गुम लते हो, इसमें कौन-शा म्याप है ! बोलो—

मातृगुप्त—न्याय ! तब तो तुम आत्मब्रह्म अथवा मानते होगे ।
 मुद्गल—अच्छ तो तर्कशास्त्र लगाना पड़ेगा !

मातृगुप्त—हाँ, तुमने गीता पढ़ी होगी !
 मुद्गल—हाँ अथवा, ब्राह्मण और गीता न पढ़े !

मातृगुप्त—उसमें तो लिखा है कि “न त्वेबाहं जातु नाऽवी न त्वं
 नेमे”—न हम हैं, न तुम हो, न यह वस्तु है, न तुम्हारी है, न हमारी,—
 फिर इस छोटी-सी गठरी के लिए इतना झगड़ा !

मुद्गल—घोरो ! तुम नहीं समझ !
 मातृगुप्त—क्या !

मुद्गल—गीता सुनने के बाद क्या हुआ !
 मातृगुप्त—महामारत !

मुद्गल—तब महामा, इस गठरी के लिए महामारत का एक लघु
 संस्करण हो जाना आवश्यक है । गठरी में हाथ लगाया कि डण्डा
 लगा । (डंडा तानता है)

मातृगुप्त—मुद्गल, डण्डा मत तानो मैं बैठा मूर्ख नहीं कि सुष्य
 माग के लिए घूम और मनु से बना हुआ एक बूँद एक ही गिराऊँ !
 (गठरी देता है)

मुद्गल—घरे कौन ! मातृगुप्त !

(नयन में कीलाहल)

मातृगुप्त—हाँ मुद्गल ! इधर तो शक और दूखों की सम्मिश्रित
 सेना घोर आतंक फैला रही है, बापों और विप्लव का साम्राज्य है ।
 निरीक्ष मारतीयों की घोर बुद्धि है ।

मुद्गल—घोर मैं महादेवी का संदेश लेकर आया हूँ, यहाँ
 बुधराज नहीं ब । यद्यपि कठ पशुपत की आज्ञा हुई कि महापद्मपुत्र
 गोविन्द गुप्त को, अथवा तब हो, शोक निश्चयो । यहाँ तो विकट समस्या
 है । हम लोग क्या कर सकते हैं !

मातृगुप्त—कुछ नहीं, केवल मगवान् से प्रायना । साम्राज्य में कोई मुननेवाला नहीं, अच्छे युवराज स्वर्दगुप्त क्या करेंगे ?

मुद्गल—रत्नु माँ हम ईश्वर होते तो इन मनुष्यों की कोई शर्मा मुनते ही नहीं । इनकी हर क्षम में हमारी आवश्यकता पड़ती है । मैं तो बचप बाता, मला यह तो कुछ मुनते मी हैं ।

मातृगुप्त—नहीं मुद्गल, निरी प्रजा का नाश बला नहीं बाता । क्या इनकी उतसि का यही उद्देश्य था ? क्या इनका जीवन केवल पीठियों के समान किसी की प्रतिहिंसा पूण करने के लिए है ? देखो वह दूर पर भी हुए नागरिक और उन पर हृथा की नृशंका । ओह ॥

मुद्गल—अर ! हाय रे बाप ॥

मातृगुप्त—सावधान ! अतहाय अबम्या में प्रायना के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं, आओ हम लोग मगवान् से किन्ती करें—

(दोनों सम्मिलित स्वर से)

उतारोगे अब कथ मू-मार ।

बार बार क्यों कह रक्सा मा लूंगा मैं अबतार ।

उमड़ रहा इस भूतल पर दुख का पारावार ।

बाइब लेलिहान बिदा का करता है बिस्तार ।

प्रलय न्यायर बरस रहे है रक अबु भी धार ।

मानवता में राक्षसल का अब है पूण प्रचार ।

पड़ा नहीं कमों में अब तक क्या यह हाहाकार ।

सावधान हो अब तुम जानो मैं तो बुझ पुकार ।

(हण सेनिकों का प्रवेश—बन्दिषों के साथ ।)

हण—धुन रह, क्या गाता है ?

मुद्गल—हैं हैं, भील मांगता हूँ, गीत गाता हूँ । आप भी कुछ दीखिरगा ! (दौन मुद्रा बनाता है)

दूत—(पकड़ देते हुए) बस, एक ओर सड़ा हो । हाँ जी, इन बुद्धों ने कुछ देना अभी स्वीकार नहीं किया, बड़े कुत्ते हैं !

नागरिक—हम निरहि प्रजा हैं । हम लोगों के पास क्या पड़ गया जो आप लोगों को दे । सैनिकों ने तो पहले ही छूट लिया है ।

दूत-सेनापति—तुम लोग बाँटें बनाना खूब जानते हो । अपना क्षिपा हुआ बन् बेकर प्राण बचाना हो तो शीघ्रता करो, नहीं तो गरम किये हुए लोहे प्रस्तुत हैं—कोड़े और ठेल में तर बपड़े मी । उस कष्ट का स्मरण करो !

नागरिक—प्राण तो तुम्हारे हाथों में है, बच जाहो ले लो ।

दूत-सेनापति—(कड़के से मारता हुआ) उसे तो ले ही लेंगे, पर, धन कहाँ है ?

नागरिक—मही है निर्वय । हत्यारे ! कष्ट दिया कि नहीं है !

दूत-सेनापति—(सैनिकों से) इनके बालकों को ठेल से मीगा हुआ झड़ा बाल कर बलाओ और स्त्रियों को गरम लोहे से दागो ।

स्त्रियाँ—हे नाथ !

हमार निर्बलों के बल कहाँ हो ?

हमारे शीन के सम्बल कहाँ हो ?

पुरुष—नदी हो नाम ही बस नाम है क्या ?

तुना केबल कहाँ हो या कहाँ हो ।

स्त्रियाँ—पुत्रपुत्र जब किसी में तब मुना था ।

मल्ल विरघात यह हमको कहाँ हो ।

(स्त्रियों को पकड़कर हुए स्वीचते हैं)

मातृगुप्त—हे प्रभु !

हमें निरबाल हो अपना बना लो ।

सदा स्वप्नद हो—चाह अर्दा हो ।

इन मिराहों के लिए प्राण उत्सर्ग करना धर्म है। अयरो ! स्त्रियों पर यह अत्याचार ! !

(तलवार से बंधन काटता है । सपकते हुए एक सन्ध्यासी का प्रवेश ।)

सन्ध्यासी—साधु ! वीर ! सम्झकर खड़े हो जाओ—मगवान् पर विस्वास करके सड़े हो ।

मुद्गल—(पहचानता हुआ) अय हो, महाराजपुत्र गोविन्दगुप्त की अय हो ।

(सभ उत्साहित होकर निकल जाते हैं, दृष्टा-सैनिक मागते हैं ।)

गोविन्द०—अच्छ मुद्गल ! तुम यहाँ कैसे ! और युधक ! तुम भीन हो !

मातृगुप्त—मुबराज स्कंदगुप्त का अनुचर ।
मुद्गल—वीर-गुप्त ! इतने दिनों पर दर्शन भी हुआ तो इस वेद्य में ।

गोविन्द०—मुद्गल ! क्या कहूँ स्कंद कहाँ है !

मातृगुप्त—उपजकनी में ।

गोविन्द०—अच्छ है, सुसजित है । जलो, दुर्ग में हमारी सेना पहुँच चुकी है, यहाँ विमान करो । यहाँ का प्रबन्ध करके हमको यहाँ आबस्कु अर्थ से भागना जाना है । अब तुम्हारा क आतंक का डर नहीं ।

अय—अय हो राजकुमार गोविन्दगुप्त की ।

गोविन्द०—सुप्यमित्रों के गुट का क्या परियाम हुआ !

मातृगुप्त—बिजय हुई ।

गोविन्द०—और मालवा का !

मुद्गल—मुबराज चौड़ी सेना लेकर ब-पुबर्मा की सहायता के लिए गये हैं ।

गोविन्द०—(ऊपर दूर धर) वीरपुत्र दे । स्कन्द ! आश्रय के

रुद्रगुप्त

देवता और पृथ्वी की लक्ष्मी तुम्हारी रक्षा करें। धाम्य-धाम्य के
तुम्हीं एक-मात्र मरोखा हो।

मुद्गल—तब महाराज-पुत्र ! बड़ी मूल लगी है। प्रायः बघत
मूल का घना हो गया शीघ्र रक्षा कीजिए।

गोविन्द०—हाँ-हाँ, सब लोग बल्लो।

[सब जाते हैं]

[अश्वत्थी का दुर्ग]

(दशसेना, विजया, जयमाला)

विजया—विजय किसकी होगी, कौन जानता है ।

जयमाला—तुमको केवल अपने धन की रक्षा का इतना ध्यान है ।

दशसेना—और देश के मान का, खियों की प्रतिष्ठा का, बच्चों की रक्षा का कुछ नहीं ।

विजया—(संकुचित होकर) नहीं, मेरा अभिप्राय यह नहीं था ।

जयमाला—परन्तु एक उपाय है ।

विजया—वह क्या ?

जयमाला—रक्षा का निश्चित उपाय ।

दशसेना—तुम्हारे पिता ने तो उस समय नहीं माना, न सुना, नहीं तो आज इस भय का अन्तर ही न आता ।

जयमाला—तुम्हारी अनार धन राशि में से एक छुट्ट अंश बही यदि इन धन-लोभुप मृगालों को दे दिया जाता तो

विजया—किन्तु इस प्रकार अर्पण दकर विजय खरीदना तो देश की बाँटा क प्रतिभूत है ।

जयमाला—ठहरो, कोई धा रहा है ।

(बन्धुवर्मा का प्रवेश)

बन्धुवर्मा—भिये ! अभी तक युवराज का कोई सन्देश नहीं मिला । सम्भवतः राक और हृषो की सम्मिलित शक्ति से आज दुर्ग की रक्षा न कर सकेंगे ।

जयमाला—नाथ ! तब क्या मुझे स्कन्दगुप्त का अभिनय करना होगा ? क्या मालवराज को दूसरे की सहायता पर ही धर्म करने का कारण हुआ था ? आशु प्रभु ! सना लक्ष्मण सिंह-पित्रम से सेना पर दृष्ट रहो ! दुर्ग-रक्षा का भार मैं लेती हूँ ।

विजया—महापति ! यह केवल वाचाकता है । दुर्ग-रक्षा का मार सुपोष्य सेनापति पर होना चाहिए ।

धनुष्यर्मा—अपमानों मठ भेड़ि-कन्ये !

जयमाता—स्वर्ण-रत्न की चमक देखनेवाली आँसों बिजली-सी लक्ष्मणों के तेज को जब तक सह सकती है । भेड़ि-कन्ये ! हम चत्रायणी है, विरधमिनी सहस्रकलाता का हम लोगों से विर-स्नेह है ।

धनुष्यर्मा—भिये ! शरणागत और विपन्न की मर्यादा रखनी चाहिए । अशुद्ध, दुर्ग का तो नहीं, अन्तःपुर का मार तुम्हारे ऊपर है ।

देवसेना—भैया, आप निश्चिन्त रहिए ।

धनुष्यर्मा—भीम दुर्ग का निरीक्षण करेगा ; मैं जाता हूँ ।

(जाता है)

विजया—भयानक मुझ समीप ही आन पड़ता है, क्यों राजकुमारी !

देवसेना—तुम बीया के लो तो मैं गाऊँ ।

विजया—हँसी न करो राजकुमारी !

जयमाता—तुम क्या है !

विजया—बुद्ध और गहन !

जयमाता—बुद्ध क्या गहन मही है ! बुद्ध का गीनाद, मैत्री का ताड़बनुस, और राजों का बाघ मिलकर मैत्र-संगीत की सृष्टि होती है । जीवन के अन्तिम दृश्य को जानते हुए, अपनी आँसों से देखना, जीवन-रहस्य के चरम सौन्दर्य की नय और भयानक वास्तविकता का अनुभव केवल सपने की हृदय को होता है । अस्मदीय महामाया प्रकृति का वह निरन्तर संघर्ष है । उसे मुझने के लिए हृदय में साहस और बल एकत्र करो । अत्याचार के अमरान में ही मंगल का, शिव का, सत्य मुन्दर संगीत का अमारम्भ होता है ।

देवसेना—तो मामी, मैं तो गाती हूँ। एक बार गा लूँ,
 समाप्त प्रिय गान फिर गाने को भिखे या नहीं।

अपमाला—तो गाओ न।

बिजया—धनी। तुम लोग आग की चिनगावियाँ हो, या झी
 हो। बेबी! बालाबुखी की सुन्दर लट के समान तुम लोग

अपमाला—तुनो, देवसेना गा रही है—

(गाना)

मरा नैनो में मन में रूप।

किसी छलिया का अमल अनूप।

जल-जल मारत व्योम में जो छाया है सब ओर।

लोज-लाजकर लो गई मैं पागल प्रेम विमोर।

भौंग से मरा हुआ यह रूप।

मरा नैनो में मन में रूप।

पमनी की तत्री वही तू रहा लगाये फन।

बलिहारी मैं, कौन तू है मेरा जीवन धान।

सेलता जैसे छाया धूप।

मरा नैनो में मन में रूप ॥

(सहसा भीमवर्न का प्रवेश)

भीम—मामी, दुर्ग का द्वार टूट चुका है। हम अस्तपुर के
 बाहरी द्वार पर हैं। अब तुम लोग प्रस्तुत रहना।

अपमाला—उनका क्या सम्प्रचार है ?

भीम—अभी कुछ नहीं भिखा। गिरिठकट में उहनेने शत्रुओं
 के माग को रोका था, परन्तु दूसरी शत्रु-सेना गुप्त मार्ग से आ
 गई। मैं जाता हूँ सावधान।

(जाता है)

(नेपथ्य में कालाहल, भयानक शब्द)

विजया—महायनी ! किसी सुरक्षित स्थान में निकल आओ ।

अयमास्ता—(दूरी निकाल कर) रक्षा करनेवाली तो पाव है, डर क्या, क्यों देखतेना !

देवसेना—माया ! मेच्छि-कन्या के पास नहीं है, उन्हें भी रो ।

विजया—न न न, मैं लेकर क्या करूँगी, भयानक !

देवसेना—इतनी सुन्दर बस्तु क्या कसोते में रख लेने के योग्य नहीं है !

विजया—(बढ़ाके कर रुग्ण सुनकर) ओह ! तुम लोग बड़ी निद्रम हो !

अयमास्ता—बाधो, एक ओर खिसकर लड़ी हो बाधो !

(रक्त से लक्ष्मण मीम का प्रवेश)

मीम—माया ! रक्षा न हो सकी, अब तो मैं जाता हूँ । वीरों के बराबरी सम्मान को अवश्य प्राप्त करूँगा । परन्तु

अयमास्ता—हम लोगों की चिन्ता न करो । वीर ! स्त्रियों की, बाधकों की पीड़ितों और अनाथों की रक्षा में प्राण बिसर्जन करना, क्षत्रिय का धर्म है । एक प्रलय की क्वाला अपनी तलवार से फैला दो । भैरव क शृंगीनाद के सम्मान प्रबल हुंकार से शत्रु-हृत्प कैंच दो । वीर ! बड़ो, गिरो तो मग्पाह के भीरव सूर्य के समान !—भागो, पीछे सब आशोक और उग्गवकता रहे !

(मीम कर प्रस्थान द्वार का टूटना, विजयी शत्रु-सेनापति कर प्रवेश, मीम कर आकर राकना गिरते-गिरते मीम कर अयमास्ता और देवसेना की सहायता संयुक्त । सहसा स्कन्दगुप्त कर सेनिकों के साथ प्रवेश ।)

‘युवराज स्कन्दगुप्त की वय !’

(रुद्ध और हण स्तम्भित हाते हैं)

स्कंद०—उहरो देवियो ! स्कन्द के बीबित रहते स्त्रियो को
 स्त्र नही बहाना पड़ेगा ।

(मुद्र, सब पराजित और बन्दी होते हैं)

विजया—(झोंककर) आहा ! कैसी मयानक और सुन्दर
 रूति है !

स्कंद०—(विजया को देखकर) यह—यह कीन !

[पटाछेप]

द्वितीय अंक

[मालव में शिवा-नट-कुम्भ]

वेधसेना—इसी पृथ्वी पर है और आकाश है।

पिञ्जया—हाँ राजकुमारी! संसार में छल, प्रवचन और
हत्याओं को देखकर कमी-कमी मान ही लेना पड़ता है कि यह
जगत् ही नरक है। कृतमता और पाक्षयज्ञ का साम्राज्य यही है।
झीना ममदी, नोच-ससोद, मूँह में से आधी रोटी खीन कर मागने
वाले विकृत जीव यही तो हैं। सम्राज के कुत्तों से भी बढ़कर
मनुष्यों की पतिव दशा है।

वेधसेना—पवित्रता की माप है मलिनता, मुसक का आलोचक
है दुःख, पुण्य की कछोरी है पाप। पिञ्जया! आकाश के
सुन्दर नक्षत्र झँझों से केवल देने ही जाते हैं; वे कुतुम्भ
कोमल हैं कि बज्र-कटोर—कीन कर लफ्फता है। आकाश में
सेकली हुई कोकिल की कन्धामयी तान का कोई फल है या
नहीं, उसे देख नहीं पाते। शतबल और पारिजात का शीरम बिट
रत्न की बस्तु नहीं। परन्तु संसार में ही नक्षत्र से उजम्बल—
किन्तु कोमल—स्वर्गीय संगीत की प्रतिमा तथा ल्याबी की
वीरम वाले प्राणी देखे जाते हैं। उन्हीं से स्वर्ग का अनुमान प
जित्वा जा सकता है।

पिञ्जया—होम, परन्तु मीने नहीं देना।

वेधसेना—तुमने सबकुछ कोई ऐसा व्यक्ति नहीं देना।

पिञ्जया—नहीं तो—

द्वेषसेना—समझ कर कहो ।

विजया—हाँ, समझ लिया है ।

द्वेषसेना—क्या तुम्हारा हृदय अभी पराजित नहीं हुआ ? विजया !

विचार कर कहो, किसी भी असाधारण महत्त्व से तुम्हारा ठरंड हृदय अभिमूढ नहीं हुआ ? यदि हुआ है तो वही स्वर्ग है । वहाँ हमारी कुन्दर कल्पना आदर्श का नीड़ बनाकर विभ्राम करती है, वही स्वर्ग है । वही विहार कर्म, वही प्रेम करने का स्थल स्वर्ग है, और वह इसी लोक में मिलता है । जिसे नहीं मिला, वह इस संसार में अमागा है ।

विजया—तो राजकुमारी, मैं कह दूँ ?

द्वेषसेना—हाँ, हाँ, तुम्हें करना ही होगा ।

विजया—मुझे तो आज तक किसी को देख कर हारना नहीं पड़ा । हाँ, एक पुत्रपन्न के सामने मन टूटा हुआ, परन्तु मैं उसे कुछ राजकीय प्रभाव भी कह कर टाल दे सकती हूँ ।

द्वेषसेना—नहीं विजया ! वह दाखने से, बहला देने से, नहीं हो सकता । तुम भाव्यवती हो, देखो यदि वह स्वर्ग तुम्हारे हाथ रहे । (सामने देखकर) अर लो ! वह पुत्रपन्न आ रहे हैं । हम लोम हट चले ।

(दोनों जाती हैं, स्कंदगुप्त का प्रवेश, पीछे अरुपालित)

स्कंद०—विजय का व्यक्ति उच्छास हृदय की मूल मित्रा रेमा ? कभी नहीं । बीरो का भी क्या ही व्यवसाय है, क्या ही उन्नत मानना है । अरुपालित ! संसार में जो सब से महान् है, वह क्या है ? त्याग । त्याग का ही दूसरा नाम महत्त्व है । प्राणी का मोह त्याग करना बीरता का रहस्य है ।

पन्न०—पुत्रपन्न । तन्पूर्व संसार कर्मण्य बीरो की विजय शाला है । बीरत्व एक स्वावलम्बी गुण है । प्राणियों का विधात

स्वप्नगुप्त

सम्भवतः इसी विचार के बर्कित होने से हुआ है। जीवन में वही तो विचारी होता है, जो दिन-रात 'सुदृश्यविगतम्बर' का शंखनाद सुन्न करता है।

स्वप्न०—अह ! ऐसा जीवन तो विहम्बना है, जिसके लिए दिन-रात लड़ना पड़े। आकाश में जब शीतल शुभ्र शब्द-शक्ति का विश्वास हो, तब नी दाँत-पर दाँत रखे, मुद्दितियों को बन्धि हुए, लाल आँसुओं से एक दूसरे को लूट करे। बसन्त के मनोहर प्रभाव में, निमृत्त जगहों में, सुपचाप बहने वाली तरिखाओं का झोठ यत्न रक्त बहाकर लाल कर दिया जाय। नहीं, नहीं अह ! मेरी समझ में मानव-जीवन का यही उद्देश्य नहीं है। कोई और भी निगूढ रहस्य है, चाहे उसे मैं स्वयं न जान सकूँ।

स्वप्न०—सावधान सुबचक ! प्रत्येक जीवन में कोई बड़ा काम करने के पहले ऐसे ही दुर्लभ विचार आते हैं; वह प्रपञ्च प्राणों का मोह है। आपने जो सङ्गाहों से अलग रहने के लिए अपनी रक्षा के लिए, वह उच्छ्वसुद प्रयत्न होता है। अयोध्या बखान के लिए आपने सब का समय निरिच्छत किया है। रामचिंहासन जब तक घना रहेगा ! पुष्पमित्रों और शत्रुओं के मुद्द समाप्त हो चुके हैं।

स्वप्न०—तुम मुझे उन्नेहित कर रहे हो।

स्वप्न०—हाँ सुबचक ! मुझे यह अविचार है।

स्वप्न०—नहीं अह ! अस्वमेव-नराक्रम स्वर्ग्येय सभाद् कुमारगुप्त का आसन मेरे शोभ्य नहीं है। मैं सङ्गाह करना नहीं चाहता, मुझे सिंहासन न चाहिए। पुत्रगुप्त को रहने दो। मेरा अकेला जीवन है। मुझे

स्वप्न०—यह नहीं होगा। यदि सम्पत्तिक के केन्द्र में ही अन्वय्य होग्य, तब तो समस्त राष्ट्र अन्वयायों का शीङ्गा-स्वक हो

बाक्या। आपको सबके अधिकारों की रक्षा के लिए अपना अधिकार सुरक्षित करना ही पड़ेगा।
(पर का आना, कुछ संकेत करना, दोनों का प्रस्थान, देवसेना और विजया का प्रवेश)

विजया—यह क्या राजकुमारी ! युवराज तो उदासीन है।
देवसेना—हाँ विजया युवराज की मानसिक अवस्था कुछ

सही हुई है।

विजया—दुर्बलता उन्हें राज्य से हटा रही है।

देवसेना—कहीं दुश्मन सोचा हुआ युवराज के महारथ का पता तो नहीं हटा रहा है ? क्यों विजया ! बैराग्य का अभाव उन्हें बचाने तो नहीं लगा ?

विजया—राजकुमारी ! हम तो निर्दय बाक्यवाच्यों का प्रयोग कर ली हो।

देवसेना—नहीं विजया, बात ऐसी नहीं है। मनवानों के हाथ में वही एक है। वह विद्या, सौन्दर्य, बल, परिश्रम, और तो क्या, स्वामी उसी से मापते हैं। वह माप है—उनका ऐश्वर्य।

विजया—परन्तु राजकुमार ! इस उदार दृष्टि से तो परक शक्ति क्या पुरुष नहीं है ! हे अबाध ! नीर हृदय है, परास्त बल है, उदार मुक्तमंडल है।

देवसेना—और सबसे अच्छी एक बात है। तुम समझती कि यह महत्वाकांक्षी है। उसे तुम अपने बैराग्य से कृप कर ली हो क्यों ? माई, तुमको लेना है, तुम स्वयं समझ लो, । दहाली नहीं पक्षेगी।

विजया—आओ राजकुमारी।

देवसेना—एक गाना सुनोगी ?

विजया—भारानी खोजती होगी, अब चलना चाहिए ।

देवसेना—उस तुम अभी प्रेम करने का, मनुष्य फँसाने का, ठीक सिखात नहीं जानती हो ।

विजया—क्या ?

देवसेना—जैसे टंग के आभूषण, सुन्दर बसन, मण्ड हुआ यौवन—
 वह सब तो चाहिए ही, परन्तु एक बस्तु और चाहिए । सुपुरुष को
 बशीमूठ करने के फल चाहिए, बोसे की उट्टी । मेरा तात्पर्य है—
 एक वेदना अनुभव करने का एक विह्वलता का, अमिनय उसके मुख
 पर रहे—जिससे कुछ आड़ी-तिरछी रेखाएँ मुख पर पड़ें, और मूले मनुष्य
 उन्हीं को लेने के लिए व्याकुल हो जाय । और फिर दो घुँघरूय-गाम
 धाँस, और इसके बाद एक तान बागेरबरी की—इसस कोमल तान ।
 बिना इसके सब रंग फीका—

विजया—उस समय भी गान ?

देवसेना—बिना गान के कोई कार्य नहीं । विश्व का प्रत्येक
 काम में एक ताल है । आदा ! तुमने सुना नहीं ? तुमनाम्य तुम्हारा ।
 सुनेगी ?

विजया—राजकुमारी । गाने का भी रोग होता है क्या ? हाथ को
 ऊँचे-नीचे हिलाना, मुँह बनाकर एक मात्र प्रकट करना, फिर फिर को
 इस ओर से हिला देना जैसे उस टान से शून्य में एक हिलोर
 उठ गई ।

देवसेना—विजया ! प्रत्येक परमाणु के मिलाने में एक तम
 है, प्रत्येक हरी-हरी पत्ती के हिलाने में एक लय है । मनुष्य में
 अना स्वर मिला कर रक्खा है, इसी में ही उठता स्वर विश्व
 बीजा में शीघ्र नहीं मिलता । पांडित्य के मार अब देखो,
 जहाँ देखो, बेगाल-बेगुरा बोलगा । पदियों को देखो, उनकी 'बहबह'

'अनन्त 'अनन्त' में, काकती में, रागिनी है।

विजया—राजकुमारी, क्या कह रही हो ?

देवसेना—इमने एकान्त टीले पर, सबसे अलग, शरद के
कुत्र प्रमाठ में फूला हुआ, फूलों से लदा हुआ, परिजात-वृक्ष
देखा है ?

विजया—नहीं तो।

देवसेना—उसका स्वर आप हृद्यों से नहीं मिलता। यह
अच्छ अपने सौरभ की तान से दक्षिण-पवन में कम्य उत्पन्न करता
है, अलिखी को चटकाकर ताली बजाकर, झूम-झूमकर नाचता
है। अपना नृत्य, अपना संगीत, यह स्वयं देखता है—सुनता है।
उसके अन्तर में जीवन शक्ति बीया बजाती है। यह वही कोमल स्वर
में गाता है—

घने प्रेम-तरु तले,
फिठ खोंह लो मय आतप से तापित और बले।
झाया है विश्वास की भदा-सरिता-मूल,
निची आँसुओं से मृदुल है परागमय घूल,
यहाँ करेन जो झले !

फूल पू पड़े पात से मरे हृदय का भाव,
मन की कया व्यथा-मरी बीटो सुनते आव,
कहाँ जा रह बले।

वी लो छपि-रस-मापुरी तीबी जीवन-येल,
वी लो सुन स आयु-मय यह माया का रेल,
मिलो स्नेह से गले।

घने प्रेम-तरु-तले।

(पद्मवर्मा का प्रवेश)

देवसेना—(संकृषित होती-सी) भरे मैया—

वन्धुवर्मा—देवसेना, तुम्हें ग्यने का भी विविध रोग है।

देवसेना—रोग तो एक-न-एक सभी को लागू है, परन्तु यह घेव
अच्छ है, इससे कितने रोग अच्छे किये जा सकते हैं।

वन्धुवर्मा—परगुणी ! जा देख, मुबराज जा रहे हैं, कुमुमपुर के
कोई समाचार आया है।

देवसेना—तब उन्हें जाना आवश्यक होगा। मामी बुलाती हैं क्या

वन्धुवर्मा—हाँ, उनकी विदाई करनी होगी। संभवतः सिंहासन पर
बैठने का—राज्याभियेक का प्रकाश होगा।

देवसेना—क्या आप को ठीक नहीं मालूम ?

वन्धुवर्मा—नहीं तो, मुझसे कुछ कहा नहीं; परन्तु भीहों के नीचे
एक गूरी छाया है, बावत कुछ समझ में नहीं आती।

देवसेना—मैया, तुम लोगों के पाठ बाँट दिया रखने का
एक मारी छत्स है। जी कोलकर कर देने में पुरखों की मर्बादा
बटती है। अब तुम्हारा इतक भीतर से रुन्दन करता है, तब
तुम लोग एक मुत्कराइट से उसे टाल देते हो—जब नहीं
प्रवचनना है।

वन्धुवर्मा—(हँसकर) अच्छा जा उपर, उपरेय मत दे।
(विजया और देवसेना जाती हैं)

वन्धुवर्मा—उदार-जीर-इदक, वैशोपम-सीन्दर्व, इत आर्प्या
वर्त का एकमात्र आशा-रपल इत मुबराज का विशाल मस्तक
कैसी बड़ किरिया से अकित है ! अंत-करय में तीव्र अमिमान
के साथ विराग है। अर्कों में एक जीवन-पूर्व उबोति है। मविष्य
के साथ इसका मृदु होय, देखो कौन विजयी होता है। परन्तु मैं प्रतिष्ठा
करता हूँ कि अर से इत जीर परोपकारी के लिए मेरा सर्वत्र अर्पित है।
अर्ह—

(जाता है)

(मठ में प्रपञ्चबुद्धि, मटार्क और शर्वनाग)

प्रपञ्च०—बाहर देख लो, कोई है तो नहीं।

(शर्व आकर लौट आता है)

शर्व०—कोई नहीं, परन्तु आप इतना चौकते क्यों हैं ? मैं तो कभी यह चिन्ता नहीं करता कि कौन आया है या आयेगा।

प्रपञ्च०—तुम नहीं जानते।

शर्व०—नहीं भ्रमस्य ! एह्यं हाय में लिये प्रत्येक मविष्यत् प्रतीक्षा करता हूँ। जो कुशल होगा, यही निश्चय होगा। इतने पर की, यवराहट की, आकल्पकता नहीं। विरबास करना और बेना, इतने ही लघु व्यापार से संसार की सब समस्यारें हल हो जावैगी।

प्रपञ्च०—प्रत्येक भित्ति के किबाड़ों के कान होते हैं, छनक लेना चाहिए, देख लेना चाहिए।

शर्व०—अच्छी बात है, कहिए।

मटार्क—तुम पहले पुन तो खो।

(शर्व चुप रहने की मुद्रा बनाता है)

प्रपञ्च०—धम की रक्षा करने के लिए प्रत्येक उपाय से काम लेना ।।

शर्व०—भिच्छु-शिरोमये ! यह कौन-सा धम है, जिसकी हत्या हो ती है ?

प्रपञ्च०—यही हत्या रोकना, अहिंसा, गौतम का धम है। यह की बलियों का रोकना, कस्यया और महापुत्र की प्रस्था ने कस्यया का प्रचार करना। हाँ, अक्सर ऐसा है कि हम यह काम भी करें जिससे तुम चौक उठो, परन्तु नहीं, यह तो तुम्हें करना ही होगा।

मटार्क—क्या ?

प्रपञ्च०—महादेवी देवकी के कारण राजधानी में बिद्रोह की संभावना है, उन्हें संसार से हटना होगा।

शय०—ठीक है, तभी आप चौकते हैं, और तभी धर्म की रक्षा होगी। इत्या के द्वारा इत्या का निषेध कर लेंगे—क्यों ?

मटार्क—व्यरो शर्भ ! परन्तु महास्वभिर ! क्या इसकी अरन्त आवश्यक्ता है ?

प्रपञ्च०—निर्वात।

शय०—बिना इसके काम ही न चलेगा, धर्म ही न प्रचारित होगा।

प्रपञ्च०—और यह काम शर्भ को करना होगा।

शय०—(चौककर) मुझे ! मैं क्यापि नहीं

मटार्क—शीघ्रता न करो शय ! मरिच्यु के सुप्तो से इसकी तुलना करो।

शय०—नाप-तोल मैं नहीं जानता मुझे शयु दिखला दो। मैं भूले भड़िये की मूर्ति उसका रक्षण कर लूँगा, चाहे मैं ही क्यों न माया जाऊँ, परन्तु निरीह इत्या—यह मुझसे नहीं ...

मटार्क—मेरी आज्ञा।

शय०—तुम तैनिक हो, उठाओ ठलवार। बल्लो, दो सदस शकुआ पर हम दो मनुष्य आक्रमण करें। जैसे मरने में कौन मागता है। कायरता। अथवा महादेवी की इत्या ! किंतु प्रलोमन में तुम विद्याच बन रहे हो ?

मटार्क—सावधान शर्भ ! इस पत्र से तम नहीं निकल सकते। या तो करो या मरो। मैं तज्जनता का हर्षांग नहीं ल सफ़ता, मुझे बर नहीं माता। मुझ कुछ लाना है, वैसे जैसे मिलगा—लूँगा। साथ दोमै, तुम भी लाम में रहो।

शय०—नहीं मटार्क ! लाम ही के लिए मनुष्य सब काम

करता, तो पशु बना रहना ही उसके लिए पर्याप्त था। मुझसे यह नहीं होने का।

प्रपञ्च०—उहरो भयार्क ! मुझे पूछने दो। क्यों राम ! तुमने जो यह अस्वीकार किया है वह क्यों ? पाप समझकर ?

शर्ष०—अवश्य ।

प्रपञ्च०—तुम किसी कर्म को पाप नहीं कह सकते, यह अपने मन्त्र रूप में पूर्ण है, पवित्र है। संसार ही युद्ध क्षेत्र है, इसमें पराजित होकर शस्त्र धारण करके जीने से क्या लाभ ? तुम युद्ध में हथियार करना धर्म समझते हो, परन्तु दूसर स्वल्प पर अपरम ?

शर्ष०—हाँ।

प्रपञ्च०—मार डालना, प्राणी का अन्त कर देना दोनों स्थलों में एकसा है, केवल देश और अलग का भेद है। यही न ?

शर्ष०—हाँ ऐसा ही तो।

प्रपञ्च०—तब तुम स्थान और समय की कसौटी पर कर्म को परखते हो, इसी से कम अपराध और बुरे होने की जाँच करते हो।

शर्ष०—दूसरा उपाय क्या ?

प्रपञ्च०—है क्यों नहीं। इस कर्म की जाँच परिस्थान में करते हैं, और यही उद्देश्य तुम्हारे स्थान और समय वाली जाँच का होगा।

शर्ष०—परन्तु जिसका माथी परिस्थान को अग्नी तुम देख न सके, उसके बल पर तुम कैसे पूरा काय कर सकत हो ?

प्रपञ्च०—आशा पर, जो सृष्टि का रहस्य है। आशो इच्छा एक मन्त्र उदाहरण दे। (मन्त्रिण का पात्र भरता है, स्वयं पीकर सब को पिलाता है, बार बार ऐसा करता है।)

प्रपञ्च०—क्यों, कैसी कड़वी ची ?

शर्ष०—उँह, हृदय तक साकीर सिंच गई !

भटार्क—परन्तु अब तो एक आनन्द का स्रोत हृदय में बहने लाग्य है ।

शर्य०—मैं नाचूँ ! (उठमा चाहता है)

प्रपंच०—रुको, मेरे साथ ।

(उठकर दोनों नाचते हैं, अकस्मात् लड़खड़ाकर प्रपंचबुद्धि गिर पड़ता है चोट लगती है ।)

भटार्क—अरे रे ! (समूहलकर उठता है)

प्रपंच०—कुछ चिन्ता नहीं ।

शर्य०—बड़ी चोट आई ।

प्रपंच०—परन्तु परिषाम अच्छा हुआ । तुम लोगो पर मारी विपत्ति आने वाली थी ।

भटार्क—बह टल गई क्या ! (आश्चर्य से दस्तका है)

शर्य०—क्यों सेनापति ! टल गई !

प्रपंच०—उस विपत्ति का निवारण करने के लिए ही मैंने यह कष्ट घटा । मैं तुम लोगो के मूठ, मविष्णु और वर्तमान का नियामक, रक्षक और इच्छा हूँ । आओ, अब तुम लोग निर्भय हो ।

भटार्क—बन्धु गुरुदेव !

शर्य०—आत्मशर्य !

भटार्क—शंका न करो, भ्रष्टा करो, भ्रष्टा का फल मिलेगा । शर्य ! अब भी तुम विस्वाह नहीं करते !

शर्य०—करता हूँ । जो आज होगी वही करूँगा ।

प्रपंच०—अच्छी बात है, बल्लो ।

(सब जाते हैं । पातुसंम का प्रवेश)

धातुनेत्र—मैं अभी यहीं रह गया सिद्ध नहीं गया । इस एहसास को अभिनय को देखने की इच्छा बलवती हुई, परन्तु मुद्गल तो अभी नहीं आया, यहीं तो आने को था । (देखता है) लो, बह आ गया ।

मुद्गल—क्यों मैया, तुम्ही पातुकेन हो ?

घातु०—(हँस कर) परचानते नहीं !

मुद्गल—किती की पातु परचानना बड़ा अज्ञाभारण्य काय है ।

इन किन्तु पातु के हो ?

घातु०—मार्ग, सोना अत्यन्त बन होता है, बहुत शीघ्र गरम होता है, और हवा लग जाने से शीतल हो जाता है । मूस्य भी बहुत लगता है । इतने पर भी गिर पर बोझ-सा रहता है । मैं सोना नहीं हूँ, क्योंकि उसकी रक्षा के लिए भी एक पातु की आवश्यकता होती है, 'लोहा' ।

मुद्गल—तब तुम लोहे के हो ?

घातु०—लोहा बड़ा कठोर होता है । कभी-कभी वह लोह की मी घट बालता है । बहूँ, मार्ग ! मैं तो मिट्टी हूँ—मिट्टी, जिसमें से सब निकलते हैं । मेरी समझ में तो मेरे शरीर की पातु मिट्टी है, जो किसी क लोम की सामग्री नहीं, और बान्धव में उसी के लिए सब पातु अस्त्र बनकर चलते हैं, लाठे हैं, धलते हैं, दूधते हैं, फिर मिट्टी होते हैं । इसलिए मुझ मिट्टी समझो—पूछ समझो । परन्तु यह तो बटाओ, महादेवी की मुक्ति के लिए क्या उपाय सोचा !

मुद्गल—मुक्ति का उपाय । अरे ब्राह्मण की मुक्ति भोजन करते हुए मरने में बनिनों की दिवालों की चोट से गिर जाने में, और शूद्रों की—इस तीनों की टोकरों से मुक्ति-ही-मुक्ति है । महादेवी तो शूद्रापी हैं, संभवतः उनकी मुक्ति शस्त्र से होगी ।

घातु०—तुमने ठीक सोचा । आम अर्द्धरात्रि में काण्णार में ।

मुद्गल—कुछ चिन्ता नहीं, सुबपात्र आ गये हैं ।

घातु०—मैं भी प्रस्तुत रहूँगा ।

(दोनों जाते हैं)

[पट-परिवर्तन]

[देवकी के राजमन्दिर का बाहरी भाग]

(मदिरोन्मत्त शर्षनाग का प्रवेश)

शर्ष०—अदम्ब, कामिनी, कश्यप—बसुंमाला के पक्षे अक्षर ।
करना होगा, इन्हीं के लिए कर्म करना होगा । मनुष्य को यदि इन
कवगों की बात नहीं तो कर्म क्यों करे ? कर्म में एक 'कु' और बौद्ध है ।
तो, अप्सुती बर्षमैत्री होगी ।

अदम्ब ! ओह प्यास ! (प्यासे में मदिरा उँडेलता है) लाल—
यह क्या रक्त ! आह ! कैसी भीयस कम्नीयता है । लाल मदिरा लाल
नेत्रों से लाल-लाल रक्त देखना चाहती है । किसका ? एक प्राणी का,
जिसके कोमल मांस में रक्त मिला हो । अरे रे, नहीं, दुर्बल नारी । उँह,
कर तेरी दुर्बलता है । बल अपना काम देस, देस—धामने सोने का
संसार लड़ा है ।

(रामा का प्रवेश)

रामा—यामर ! सोने की लंका राख हो गई ।

शर्ष०—उसमें मदिरा न रही होगी मुन्दरी !

रामा—मदिरा का समुद्र उफन कर बह रहा था—मदिरा-समुद्र के
तट पर ही लंका बनी थी !

शर्ष०—तब उसमें तुम-जैसी कोई कामिनी न होगी । तुम कौन
हो—स्वर्ग की अप्सरा या स्वप्न की सुईल ?

रामा—स्त्री को देखते ही डिलमिल हुए, भाँसें फड़क कर देखते
हैं—जैसे या बाँयेंगे । मैं कोई हूँ ।

शर्ष०—मुन्दरी ! वह तुम्हारा ही दोष है । तुम लोगों का वेद्य
विन्यास, भाँकों की लुना-बोरी, भाँगे का किमटना, चलने में एक
कीड़ा, एक कीदूरल, पुष्पर कर—टोक कर कहते हैं—'हमें देखो !'
हम क्या करें, देखते ही बनता है ।

रामा—तुम च मयन । तु अपनी स्त्री को नहीं पहचानता है , पर स्त्री समझ कर उसे छड़ता है !

शय्य०—(सम्भल कर) अरे ! अर ओह ! मेरी रामा, तुम हो ?

रामा—हाँ, मैं हूँ ।

शय्य०—(हँसकर) समी तो मैं तुमको जान कर ही बोला, नहीं मन्ना मैं किसी पर-स्त्री से—(जीम निकाल कर जान पकड़ता हूँ)

रामा—अच्छा, यह तो बताओ, कादम्ब पीना कहाँ से सीखा है ? और यह क्या बकते थे ?

शय्य०—अरे प्रिये ! तुमसे न कहूँगा तो किससे कहूँगा, मुनो—

रामा—हाँ-हाँ, करो ।

शय्य०—तुमको रानी बनाऊँगा ।

रामा—(हँसकर) क्या !

शय्य०—तुम्हें सोने से ल्याद दूँगा ।

रामा—कित तरह ?

शय्य०—बह मी पतला हूँ ! तुम निस्प करती आती हो कि 'तु निकम्मा है कुद नहीं है'—तो मैं कुद कर दिखाना चाहता हूँ ।

रामा—अर करो मी !

शय्य०—बह पीछ बहाऊँगा । आज तुम मगदबी के बन्दीख में न जाना, समझ न ?

रामा—(उल्लुकता से) क्यों ?

शय्य०—सोना लना हो, मान लेना हो, तो एसा ही करना , क्योंकि आज वहाँ जो काँट होगा, तुम उसे देख न सकोगी । तुम अभी इती स्थान से लौट जाओ ।

रामा०—(डरती हुई) क्या करोगे ? तुम शिवाच की दुष्प्रामना से मी महानक दिखारें बत हो । तुम क्या करोगे ? बोलो ।

शुभं—(मध्याह्न करता हुआ) इत्य । थोड़ी-सी मरिच दे, शीघ्र दे, नहीं तो तुम मोक दोग । ओह, मेरा नया ठाकड़ा आ रहा है ।

रामा—आब तुम्हें क्या हो गया है । मेरे स्वामी ! मेरे

शुभं—अभी मैं ठेप कुछ नहीं हूँ । सोना मिलने से हो आर्कष, इसी का उद्योग कर रहा हूँ ।

(इधर-उधर देख कर बगल से सुराही निकाल कर पीता है)

रामा—ओह ! मैं समझ गई ! तुने बेच दिया—पिशाच के हाथ तुने अपने को बेच दिया । अहा ! ऐसा सुन्दर, ऐसा मनुष्योचित मन, कौड़ी के मोल बेच दिया । लोमकण मनुष्य से पशु हो गया है । रक्त-पिपासु ! क्रूरकर्मा मनुष्य ! कृतघ्नता की कौच का कौड़ा ! नरक की दुर्गन्ध ! तेरी इच्छा कदापि पूर्ण न होने दोगी । मेरे रक्त के प्रत्येक परमाणु में जिसकी कृपा की शक्ति है, जिसके स्नेह का आर्कषण है, उनके प्रतिकूल आचरण ! वह मेरा पति तो क्या, स्वयं ईश्वर भी हो, नहीं करने पावेगा ।

शुभं—क्या तू—ओ—तू

रामा ही-ही, मैं न होने दोगी । मुझे ही मार ले इत्यरे । मध्य ! तेरी रक्त पिशाच शान्त हो जाये । परन्तु म्हादेवी पर हाथ लगाया तो मैं पिशाचिनी-सी प्रणय की अली अर्षी बन कर कुचक्रियों के जीवन की अली राज अपने शरीर में लपेट कर छपड़ब नृत्य करूँगी ! मान आ, इसी में ठप मला है ।

शुभं—अच्छ, तू इसमें विघ्न डालोगी । तू ही क्या विघ्नो का पदाङ्ग भी होगा तो टोकरों से हय दिया जायगा । मुझे सोना और सम्मान मिलने में कौन बाधा देय्य !

रामा—मैं दूँगी । सोना मैं नहीं चाहती, मान मैं नहीं चाहती, मुझे अपना स्वामी अपने उची मनुष्य-रूप में चाहिए ।

फड़ती है।) स्वामी ! जिस पक्ष में जिनसे चले जाते हैं, उन पर चोट नहीं करते, बड़े दुम ठा मन्त्रिक करने वाल मनुष्य हो।

शय्य०—(टुफ़गा नेता है) हा, नू हट जा, नहीं तो मुझ एक के स्थान पर दो हथारों करनी पड़ेगी ! मैं प्रतिभुत हूँ, बचन दे चुका हूँ।

रामा—(प्रार्थना करती हुई) तुम्हारा बह भूटा खस्य है ! ऐसी प्रतिभुतों का पालन खस्य नहीं कहा जा सकता, ऐसे धोन्ने के खस्य लेकर ही संसार में पाप और असत्य बजते हैं। स्वामी ! मान जाओ।

शय्य०—ओह, किलम्ब होता है, तो पल नू ही ले—

(पकड़ना और मारना चाहता है। रामा शीघ्रता से हाथ छोड़ा कर भाग जाती है।)

(अनन्तदेवी, प्रथमशुद्धि और मटाक का प्रवेश)

मटाक—राम !

शय्य०—बप हो ! मैं प्रस्तुत हूँ, परन्तु मेरी स्त्री इसमें बाधा बालना चाहती है। मैं परल ठसी को पकड़ना चाहता था, परन्तु बह बगी।

अनन्तदेवी—तौगन्ध है ! यदि नू बिरबासपात करेगा तो कुधो से मुचपा दिया जायगा।

प्रथम०—शर्ब ! तुम तो स्त्री नहीं हो।

शय्य०—नहीं, मैं प्रतिभुत हूँ। परन्तु

मटाक—तुम्हारी पर-शुद्धि और पुरस्कार का प्रमाण-पत्र बर प्रस्तुत है। (दिखाता है) काम हो जाने पर—

शय्य०—तब शीघ्र बलिप, बुध रामा भीतर पहुँच गई होगी।

[सब जाते हैं]

[बन्नीग्रह में देवकी और रामा]

रामा—महादेवी, मैं लज्जा के गर्त में डूब रही हूँ। मुझे कृतघ्नता और सेवा बर्ष भिक्खार दे रहे हैं। मेरा स्वामी

देवकी—शान्त हो रामा ! बुरे दिन बहते किते हैं ! अब स्वयंभुव लोभ अपने शील-शिष्याचार का पालन करे—आत्मछर्षण, छातुमूर्ति, सत्य का पालन करे, तो दुर्दिन का काहल नहीं कि उस कुटुम्ब की ओर शील उठाकर देने। इतकिए इस कठोर समय में भगवान् की स्तुति करतया का शीतल ध्यान कर।

रामा—महादेवी ! परन्तु आप की क्या दया होगी !

देवकी—मेरी दया ! मेरी लाज का बोझ उखी पर है मिलने बचन दिया है, जिस बिपद्-भजन की अतीम दया अपना निम्ब अंधल उस दुखियों के खास पेटने के लिए खरैव हाथ में लिने रहती है।

रामा—परन्तु उसने पिशाच का प्रतिनिधित्व प्रकटिया है और

देवकी—न बखर रामा ! एक पिशाच नहीं, नरक के अंतपत्र पुरान्त प्रेथ और क्रूर पिशाचों का मात और उनकी आला दयामय की कृपादृष्टि के विन्दु से शान्त होती है।

(नेपथ्य से गाना)

पालका बने प्रलय की लहरें !

शीतल हो आला की औधी,
करुणा क पल बढ़रे।
दया दुलार करे, पल मर भी—
बिपदा पास न टहरे।
प्रभु का हो विश्वास सत्य तो,
मुग्य का बतन फहरे।

(मयार्क आदि के साथ अनन्तदेवी का प्रवेश)

अनन्त०—परन्तु भृंग की बिपन्वाला रक्त-वारा से भी नहीं बुझती देवकी ! तुम मरने के लिए प्रस्तुत हो जाओ ।

देवकी—क्या तुम मेरी हत्या करोगी !

प्रपंचबुद्धि—हाँ ! सद्धर्म का विरोधी, हिमालय की निबंन ऊंची चोटी तथा अगाध समुद्र के अन्तन्तल में भी नहीं बचने पावेगा ; और उस महाबलिदान का आरम्भ तुम्हीं से होगा । शर्ष ! आगे बढो ।

रामा—एक शर्ष नहीं, तुम्हारे जैसे सैकड़ों पिशाच भी यदि जुट कर आये, तो आज महादेवी का अंगस्पर्श कोई न कर सकेगा ।

(घुरी निकालती है)

शर्ष०—मैं तेरा स्वामी हूँ रामा ! क्या तू मेरी हत्या करेगी !

रामा—ओह ! बड़ी बसबुद्धि ज्ञानी है पिशाच को, और यह महादेवी तपी कौन है !

शर्ष०—फिर भी मैं तेरा

रामा—स्वामी ! नहीं-नहीं, तू मेरे स्वामी की नरकनिवासिनी प्रेतात्मा है । तेरी हत्या कैसे—तू तो कभी का मर चुका है ।

देवकी—शान्त हो रामा ! देवकी अपने रक्त के बदल और किसी का रक्त नहीं गिणना चाहती । बल से रक्त के प्यासे कृपे ! बल, अपना काम कर ।

(शर्ष आगे बढ़ता है)

अनन्तदेवी—क्यों देवकी ! राजसिंहासन खोने की स्पर्धा क्या हुई ?

देवकी—वामना की कृपा है कि मैं स्वामी के रक्त से कतुरित सिंहासन पर न बैठ सकी ।

रुद्रगुप्त

मटाकें—मगवान् अब स्मरण कर लो ।

द्वेषका—मेरे अन्तर की कब्र का नामना एक थी कि 'रुद्र' को दब लो । परन्तु तुम लोगों से हाथपै स मैं उसके लिए भी प्रामाण्य न करूँगी । प्रार्थना उसी विरवम्भर क भीचरणा में है, जो अपनी अन्त दसा का अभेद्य कब्र परना कर मेरे रुद्र को उदैव मुपदिश रक्त्तगा ।

शुभ्य०—अच्छ तो (लड्डग उटाता है, रामा सामने आकर लड़ी हो जाती है) इट जा अमाग्नि ।

रामा—मूल ' अमाग्न कीन है ! जो संसार के सब सं पवित्र व कृपता को मूल बाठा है, और मूल आठा है कि वह क ऊपर एन घटल अरएट का निपामक सर्वशक्तिमान् है, वह या मैं !

शुभ्य०—करता है कि अपनी लोप मुक्त पैरो स न टुकवाने दे ।

रामा—टुकटे का लोमी ! तू सती का अपमान कर, यह सती स्वर्गा ! तू कौत्रो स भी तुष्ट है । पहल मैं मरूँगी, तब महादेवी ।

अमन्त०—(क्रोध से) तो पल इठी का अन्त करो शुभ ! शोभता करो ।

शुभ्य०—अच्छ तो बरी होगा ! (प्रहार करने पर उघल हाता है) (किपाइ तोइकर रुद्र भीतर घुस आता है—दीखे मुद्रगल और धानुदन । आगे ही शुभनाग की गदन दसा कर तलवार घुन सता है ।)

रुद्र०—(मटाकें से) क्यों र नीच प्यु ! तेरी क्या इच्छा है !

मटाकें—एककुमार ! नीर के प्रति उचित व्यवहार होने चाहिए ।

स्कंद०—तू वीर है? अदरानि में निस्सहाय अथवा महादेवी की हत्या के उद्देश्य से घुसने वाला थोर! तुम्हें भी वीरता का अभिमान है? तो ईद मुझ के लिए आमंत्रित करता हूँ—बचा जानो।

(मटक दागक हाथ बला कर भायल हाकर गिरता है)
स्कंद०—मेरी चौतेली माँ! तुम !

अनन्त०—स्कंद! फिर भी मैं तुम्हारा पिता की पत्नी हूँ।
(घुसनों के बल धँस कर हाथ जोड़ती हुई)

स्कंद०—अनन्तदेवी! कुसुमपुर में पुरगुप्त को लेकर घुसवान बंडी प्यो। जाओ—मैं स्त्री पर हाथ नहीं उठाता, परन्तु सावधान! विद्रोह की इच्छा न करना, नहीं तो क्षमा असम्भव है।
'अहा! मरी माँ!'

देवकी—(आलिंगन करके) आओ मेरे बाल !

[अचानकी-दुःख का एक भाग ; दन्वुवर्मा, मीमवर्मा और जयमाला का प्रवेश]

दन्वुवर्मा—बस मीम! पोछो, तुम्हारी क्या सम्मति है?
मीम०—ठात! आपकी इच्छा, मैं आपका अनुसर हूँ।

जयमाला—परन्तु इतकी आवश्यकता ही क्या है? उनका रत्ना क्या साम्राज्य है तब भी क्या मातंग ही के बिना काम न चलगा?

दन्वु०—देवी! कबल स्वार्थ बखने का अवसर नहीं है। यह तो है कि शत्रुओं के पतन-काल में पुनरुत्थापित स्वर्गाय मगराज शिरधारों ने एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया, और उनका अनुसर ही उस राज्य के स्वत्वाधिकारी है, परन्तु उस राज्य का प्यंश हो चुका था, म्लेच्छों की सम्मिलित बादिनी उस घूल में निष्ठा चुर्बा थी, उस समय तुम लोगों को केवल अन्व-हत्या का ही अवकाम

स्कन्दगुप्त

निरोध मा, तब इन्हीं स्कन्दगुप्त ने रक्षा की थी, वह राज्य अब न्य-
से उन्हीं का है।

मीम०—परन्तु क्या वे मांगते हैं !

बन्धु०—नहीं मीम ! मुबराज स्कन्दगुप्त ऐसे छुद्र हृदय के नहीं,
उन्होंने पुरगुप्त को इस अनन्य अपराध पर भी मगध का शासक बना
दिया है। वह तो शिक्षात्म भी नहीं लेना चाहते।

जयमाता—परन्तु तुम्हाप माण्डव उन्हें प्रिय है।

बन्धु०—देवी, तुम नहीं देखती हो कि आर्यावर्त पर विपत्ति
की प्रलय-नेकमाला बिर रही है, आर्यसाम्राज्य के अन्त
विरोध और दुर्बलता को आक्रमणकारी मछी-भाँति जान गं
है। शीघ्र ही देशम्प्रापी मुझ की सम्मानना है। इसलिये यह
मेरी ही सम्मति है कि साम्राज्य की सुम्बरवा के लिए आर्य-
राष्ट्र के शत्रु के लिए मुबराज उरुवर्णिनी में रहें, इसी में तब का
कल्याण है। आर्यावर्त का जीवन केवल स्कन्दगुप्त के कल्याण से
है। और, उरुवर्णिनी में साम्राज्याभिप्रेक का अतुष्टान होगा, मन्नाद्
होने स्कन्दगुप्त।

जयमाता—आर्यपुत्र ! अपना वैतुक राज्य इस प्रकार दूसर
के पन्तक में निस्विकोच अर्पित करते हुए इन्म कर्पित नहीं है।
क्या फिर ठाँही की सेवा करते हुए दाम क समान जीवन व्यतीत
करना होगा !

बन्धु०—(सिर मुझ कर सोचते हुए) तुम कृतप्रता का समर्थन
करोगी, वैभव और ऐश्वर्य के लिए ऐसा करव प्रस्ताव करोगी, इतका
मुझे स्वप्न में भी ध्यान न था।

जयमाता—बदि होता !

बन्धु०—तब मैं इस कुटुम्ब की कमनीय कल्पना को दूर ही
से नमस्कार करता और आजीवन अविवाहित रहता। अग्निने !

जो बेवश सड़ग का अवलम्ब रखने पाठे है—सैनिक है उन्हें विज्ञान की सामग्रियों का लोभ नहीं रहता । विज्ञान पर, बुझावम गहों पर लेटने के लिए या अकर्म-इच्छा और शरीर ऐस्य के लिए धर्मियों में लोहे को अपना आभूषण नहीं बनाया है ।

मीम०—भैया ! तब !

बन्धु०—मीम ! धर्मियों का कर्तव्य है—धार्ष्ट्य प्राप्त-व्यय्य होना, विरद का ईश्वर हुए आर्त्तियन करना, विनीयिधायी की दुष्कारक अकहेला करना, और—और विपन्नो के लिए, अपने धर्म के लिए, दण्ड के लिए, प्राप्त देना ।

(देखतेना का सहसा प्रवर)

देखतेना—भाभी ! सर्वात्मा के स्वर में, ध्याम-उत्प्रेरण के अन्वेषण में अपने विशिष्ट स्वच्छिन्व का विस्मृत हो जाना—एक मनोहर संगीत है । सुद स्वार्थ, भाभी, जाने दो, भैया को रसो, कैसा उदार, कैसा महान और कितना पवित्र ।

अयमाला—देखतेना ! समष्टि में भी स्वच्छिन्व रहती है । स्वच्छियों से ही जाति बनती है । विरक्तमेम, उपभूत हित-कामना परम धर्म है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि अपने पर धर्म न हो । इत अपने ने क्या अन्वेषण किया है जो इसका बहिष्कार हो ?

बन्धु०—उहरो अयमाला ! इसी सुद मन्त्र ने हमको कुष्ट भावना की आर प्रेरित किया है, इसी से हम स्वार्थ का उपभन करते हैं । इन छोड़ दो अयमाला ! इसके बशीभूत होकर हम अकृत पवित्र बन्धुओं में बहुत दूर हो जाते हैं । बलिदान करने के योग्य वह नहीं, जिसने अपना आपा नहीं छोड़ा ।

मीम०—भाभी ! अब तक न करो । समस्त देश के कल्याण

रुद्रगुप्त

के लिए—एक कुटुम्ब की भी नहीं, उसका चक्र स्थायी की बलि होमे दो। मामी ! इदम नाम उठा है, जाने दो इस नीच प्रस्ताव को। देखो—इमाय आम्हेंबर्त विपन्न है, यदि हम मर-निटकर भी इसकी कुल सेवा कर सकें

जयमाता—बच कमी लोगो की ऐसी इच्छा है तब मुझे क्या।

पद्मु०—तब मालवेरवरी की जय हो ! तुम्ही इस सिंहासन पर बैठो। पद्मुवर्मा तो आज से आम्हें-लाभान्य-मेना का एक आभारस्य पदातिक सैनिक है। तुम्हें तुम्हारा ऐश्वर्य मुझ हो।

(जाना चाहता है)

भीम०—ठहरो मैसा, हम भी चलत है।

धर्मपालित—(प्रवेश करके) धन्य वीर ! तुम्हें सुत्रिय का तिर ऊँचा किया है। धन्यवर्मा ! आज तुम महान् हो हम तुम्हारा अभिनन्दन करते हैं। रक्त में, वन में, विपत्ति में ध्यानन्द में, हम सब सहभागी होने। धन्य तुम्हारी जननी—जिसने आम्हें-राष्ट्र का पैसा शूर सैनिक उत्पन्न किया।

पद्मु०—स्वागत कर ! मालवेरवरी की जय हो ! अब हम सब सैनिक जात है।

धर्म०—ठहरो वन्दु ! एक मुझ समाचार तुम लो। पिताजी का कमी भ्रमी पत्र आया है कि खौराष्ट्र के राजों का निमूल कर का पाम महारक मालव के लिए प्रस्थान कर चुक है।

दम्पु०—गम्भरत महाराजपुत्र उधरापय की सीमा की रक्षा करे।

धर्म०—हाँ वन्दु !

द्वेषमता—बला मार, मैं भी तुम लोगों की सेवा करूँगी।

जयमाता—(घुटन टेक कर) मालवेरवरी की जय हो ! प्रजा

न अनपस किया है, दंड भीषण । पतिरेव । आपकी दासी समा
 मांगती है । मरी अलि खुल गइ । आज हमने जो राज्य पाया है,
 पर दिग्ब-खामात्र मे भी ऊँचा है—वहान् है । मरे स्वामी और
 ऐसे म्यान् ! अन्य हैं मैं

[षण्णुवर्मा तिर पर हाथ रखता है]

[पथ में मटाक और उसकी माता]

कमला— तु मेरा पुत्र है कि नहीं ?

मटाक— माँ ! संसार में इतना ही तो स्थिर स्वर है, और मुझे इतने ही पर विश्वास है। संसार के समस्त लांछनों को मैं तिरस्कार करता हूँ, किन्तु लिए ! केवल इसीलिए कि तु मेरी माँ है, और वह जीवित है।

कमला— और मुझे इसका पुत्र है कि मैं मर क्यों न गई, मैं क्यों अपने कलक-पूख जीवन को पालती रही। मटाक ! तूने मेरी को एक ही आशा की कि पुत्र देण का सेवक होगा मोक्ष में पर-दलित भारतमूढि का उद्धार करके मेरा कलक भी डाले मेरा तिर उँचा होमा। परन्तु हाम !

मटाक— माँ ! तो तुम्हारी आशाओं को मैंने विफल किया क्या मेरी कर्मलता आग के पूजा नहीं बरसाती, क्या मेरे रक्त नाद बह पानि के समान शत्रु के कलेज नहीं बँधा देते ? क्या तर मटाक का लोहा भारत के शक्ति नहीं मानते !

कमला— मानत हूँ, इसी से तो और स्थानि है।

मटाक— बर लौट सको माँ ! स्थानि क्या है ?

कमला— इसीलिए कि तु बेसहोदी है। तु राजकुल की शांति का प्रलय-मेघ बन गया, और तु साम्राज्य के कुपत्रियों में से एक है। छोड़ ! नीब ! हठम ! कमला कलकिनी हो सकती है, परन्तु वह नीबता, हठमता, उठके रक्त में नहीं। (राती है)

(निजया का प्रवेश)

निजया— माता ! तुम क्यों रो रही हो ? (मटाक की ओर दसदस) और पर कौन है ? क्या जी ! तुमने इस पृथा का क्यों अपमान किया है ?

कमला— बेबी ! वह मेरा पुत्र था।

विजया—य ! क्या अब नहीं !

कमला—नहीं, इसने महाबलाधिकृत होने के क्षणक्ष में अपने हाथ पर आप-शुभला में सकड़ दिये, अब फिर भी उज्जयिनी में आया है—
किन्ती परम्परा के लिए !

विजया—कौन, तुम महाबलाधिकृत भयक हो ! और तुम्हारी माता की यह दीन बधा !

कमला—ना बेटी ! उससे कुछ मत कहो, मैं स्वयं इसका पेरवर्य त्याग कर बखी धारि हूँ । महाकाल के मन्दिर में मिथ्या प्रस्था कर इती उज्जयिनी में पड़ी रहूँगी, परन्तु इससे

मद्यक—माँ ! अब और सज्जित न करो । चलो—बर चलो ।

विजया—(स्वगत) अहा ! कैसी बीरब-स्यंभक मनोहर मूर्ति है ! और गुप्त-साम्राज्य का महाबलाधिकृत !

कमला—इस पिशाच ने छुटना के लिए रूप बदला है । सम्राट् का अभिषेक होने वाला है, अब उठी में कोई प्रपञ्च रखने आया है । मरी कोई न मुनेगा नहीं तो मैं स्वयं इसे दंडनायक को समर्पित कर दती ।

(सहसा मातृगुप्त, मुद्गल और गोविन्दगुप्त का प्रवेश)

कौन ! मद्यक ! अरे यहाँ भी ! !

(मद्यक तलवार निकालता है, गोविन्दगुप्त उसके हाथ में तलवार सीम लते हैं)

मुद्गल—महारजपुत्र गोविन्दगुप्त की वय !

गोविन्द—कृतम ! बीरता उन्माद नहीं है, धार्पणी नहीं है, जो उचित-अनुचित का विचार न करती हो । कबल सुख-बल पर टिकी हुई बीरता बिना देर की होती है । उसकी दृढ़ मिति है—न्याय । व उन्ने कृष-रुने पर फिर ऊँचा उठा कर नहीं रह सकता । मातृगुप्त ! बन्दी करो इसे ।

और तुम कौन हो मरे !

कमला—मैं इस कृतघ्न की माता हूँ। अच्छे दुष्मा, मैं तो स्वयं परी विचार करती थी।

गोविन्द—यह तो मैंने अपने अनोठे मुना। धन्य हो देवी! तुम जैसी जननिर्वा जब तक उत्तम हामी, तब तक ब्राह्मणपुत्र का विनाश असम्भव है।

और यह सुवती कौन है ?

कमला—मुझे क्षमाता देती थी कोई अभिजात कुल की बन्धु है। इसका कोई अपराध नहीं।

मुद्गल—अर राम ! यह भी अत्रय कोई मन्थनक करि होगी !

मादगुप्त—परन्तु यह अपना कार्य परिषय भी नहीं दे रही है !

यिज्ञया—मैं अपराधिनी हूँ, मुझे भी बन्दी करो।

मटाक—यह क्या इस सुवती से तो मैं परिचित भी नहीं हूँ, इसका कोई अपराध नहीं।

यिज्ञया—(स्फगत) और इस आनन्द-महोत्सव में मुझे कौन पूजना है मैं मालव में अब किस काम की हूँ। जिसका नाम ने समस्त राज्य अर्पण कर दिया है—यह बबठेना और यहाँ मैं ! तब तो मेरा पत्नी (मटाक की आर देखती है)

गोविन्द—मत्र ! तम अपना, स्पष्ट परिचय दो।

यिज्ञया—मैं अपराधिनी हूँ।

मादगुप्त—परन्तु तुम्हारा और भी कोई परिचय है ?

यिज्ञया—यही कि मैं बन्दी होने की अभिलाषिनी हूँ।

कमला—कसे ! तुम अकारण क्यों दुःख उठाती हो ?

यिज्ञया—मरी इच्छा। मुझ बन्दी कौनिए। मैं अपना परिचय न्यायिकरण में हूँगी। यहाँ मैं कुछ न कहूँगी। मेरा यहाँ

अवमान किंवा आशङ्का, तो ब्राह्मणपुत्र के नाम पर मैं तुम लोगों पर अनियोग लगाने लगी।

गोविन्द०—क्यों मटाक ! यदि तुम्हीं कुछ कहते—

मटाक—मैं कुछ नहीं जानता कि यह कौन है। मुझ भी
विलम्ब हो रहा है, शीघ्र न्यायाधिकरण में ले चलिए।

मुद्गल—और घृष्टा कमला !

गोविन्द०—बह बन्दी नहीं है, परन्तु एक बार स्कन्द के समक्ष
उसे बलन्त्र होगा।

मातृगुप्त—तो फिर सब चलो, अग्निपेक का समय भी
हर्ना है।

[सब जाते हैं]

[रावसमा]

(बन्धुवर्मा, भीमवर्मा मातृगुप्त तथा मुद्गल के साथ स्कन्द का एक आर से और दूसरी आर से गोविन्दगुप्त का प्रवेश)
 स्कन्द०—(बीच में लड़ा होकर) वाह ! क्या मे ! इस बार पर अकारण क्रोध करके क्यों छिपे थे !

(परशु-वन्दन करता है)

गोविन्द०—उठा बन्ध ! आर्य खन्दगुप्त की अनुपम प्रति कृति ! गुप्तकुल ठिलक ! मार स मैं कठ गया था, परन्तु तुमसे कदापि नहीं, तुम मरी आत्मा हो बन्ध ! (आक्षिप्तगम करता है । अनुचरियों के साथ दबकी का प्रवेश, स्कन्द दबकी का परशु-वन्दन करता है ।)
 दबकी—बन्ध ! चिरविजयी हो ! बेबता तुम्हारे रक्षक हो । महाराजपुत्र ! इसे आशीर्वाद दीजिए कि गुप्तकुल क गुप्तियों के प्रति यह विनयशील रहे ।

गोविन्द०—महादेवी ! तुम्हारी क्रोध से वेदा हुआ यह राज, यह गुप्तकुल के अभिमान का बिह्व, तबैव यशोमहित रहेगा !

स्कन्द०—(बन्धुवर्मा से) मिथ मालवेश ! बन्धो, सिंहासन बैठो ! इस लोग तुम्हारा अभिनन्दन करें ।

(जबमाला और दबसेना का प्रवेश)

जयमाला—देव ! यह सिंहासन आप का है, मालवेश का इस पर कोई अधिकार नहीं । आर्यापक्ष के सम्राट के अतिरिक्त अब वृषभ कोई मालव क सिंहासन पर नहीं बैठ सकता ।

("मालव की जय हो" —सुमुल ध्वनि)

बन्धुवर्मा—(हँसकर) सम्राट ! अब तो मालवेश्वरी ने स्वर्ग सिंहासन त्याग दिया है, और मैं उन्हें दे चुका था, इसलिए अब सिंहासन प्रदत्त करने में विलम्ब न किजिए ।

गोविन्द०—बन्ध ! इन आप प्राति के एतों की कीन-ती

प्रलय करे। इनका स्वार्थ-भ्याग दधीचि के दान से कम नहीं। बड़ो
 क्त। सिंहासन पर बैठो, मैं तुम्हारा ठिकाना करूँ।

स्कन्द०—ठाठ ! विपत्तियों के बादल घिर रह हैं, अन्तर्बिद्रोह
 की शक्ती प्रगलित है, इस समय मैं केवल एक सैनिक बन सकूँगा,
 समाप्त नहीं।

गायिन्दगुप्त—आज आर्य-जाति का प्रत्येक बन्धा सैनिक है,
 निक छोड़ कर और कुछ नहीं। आर्य-कन्याएँ अपहरण की जाती हैं,
 जो के विकृत तारुण्य से पवित्र भूमि पादाक्रांत है, कभी देवता की
 रूपा नहीं होती, सीमा की बरबर जातियाँ की राक्षसी वृत्ति का प्रचंड
 चर्चंड कैला है। इती समय जाति तुम्हें पुकारती है समाप्त—होने
 के लिए नहीं, उच्चार-मुक्त में सेनानी बनने के लिए—समाप्त।

(गायिन्दगुप्त और बन्धुवमा हाथ पकड़कर स्कन्दगुप्त को
 सिंहासन पर धैर्यत ह। भीम छत्र लेकर बैठता है। देवसेना चमर
 करती है। गतङ्गम लंकर बन्धुवमा लड़े होते हैं। दक्षिणी रात्रिलक
 करती है। गायिन्दगुप्त लङ्का का उदहार दते हैं। एक गतङ्गाकित
 रात्रिद दता है।)

गायिन्दगुप्त—परम महारथ महापद्मापिताम स्कन्दगुप्त की
 प हो।

सब—(समवेत स्वर से) जव हो !

वसु०—आप-आज्ञा के महापद्मापिहृत महापद्मपुत्र गोविन्द
 गुप्त की जव हो ! (सब वैया ही कहते हैं)

स्कन्द०—आप ! इस गुह्यकार उच्चरदास्त्रि का स्वयं से पासन
 कर सकूँ, और आपराट्ट की रक्षा में सर्वस्व अपर्ण कर सकूँ, आप
 लोग इसके लिए मगवान् से प्रार्थना कीजिए और आशीर्वाद दीजिए कि
 स्कन्दगुप्त अपने कर्म्य स, स्वदेश-सेवा से, कभी विफलित न हो।

स्कन्दगुप्त

गोविन्द०—उम्राट् ! परम्यामा की अतीम अनुकम्पा से आप उद्वेग लपक हो । आप गोविन्द ने अपना कलम पालन किया बत पन्धुबर्मा ! तुम इस नवीन आर्यपट्ट क संस्थापक हो । तुम्हारे इस आत्मत्याग की शौर्य-गाथा आप आदि का मुक्त उदग्वल करगी । वीर ! इस दूर में साम्राज्य के महाबलाधिकृत होने की क्षमता नहीं तुम्ही इसके उपपुस्त हो ।

वन्धु०—मनी नदी अर्ध ! आपके बरखों में बैठ कर यह बातक स्वदेश-सेवा की शिक्षा प्रदत्त करंगा । मालव का राजकुटुम्ब, एक-एक बन्धा आप आदि के कस्याय के लिए जीवन उत्सर्ग करने को मन्तुत है । आप जो आग्र देगे वही होगा ।
'पन्ध ! पन्ध !'

स्कन्द०—तात ! पण्यदत्त इस समय नहीं हैं !

पण्य०—उम्राट् ! बद सौपट्ट की पन्धठ पट्टनीति की देख-ने में लगे हैं ।

(कुमारदास का प्रवेश)

मातृगुप्त—सिंहल क मुबराज कुमार भागुनेन की वय हो !
(सब आश्चर्य से दत्त हैं)

स्कन्द०—कुमारदास सिंहल के मुबपत्र !

मातृगुप्त—हाँ महाराजप्रियत्र !

स्कन्द०—अस्मृत ! वीर मुबपत्र ! तुम्हारे स्नेह क्या कमी भक्त उक्त्य हैं ! आधा स्वागत !

(सब भंज पर बैठते हैं)

गोविन्द०—बन्धियों को ले आओ ।
(सेनिट्रो के साथ मयूरक, शर्पनाग, विजया तथा कमला का प्रवेश)

स्कन्द०—क्यों शर्प ! तुम क्या करते हो !

शुभ०—समाट् ! मुझे बच की आशा दीजिए ऐसे नीच के लिए और क्यों दह नहीं है ।

सुम०—नहीं, मैं तुम्हें इससे भी कड़ा दरद दूँगा, जो बच से भी टप होगा ।

शुभ०—बड़ी हो समाट् ! जितनी यन्त्रणा से यह पापी प्राण निकला था, उठना ही उत्तम होगा !

सुम०—परन्तु मैं तुम्हें मुक्त करता हूँ, क्षमा करता हूँ । तुम्हारे अन्तः ही तुम्हारे मर्मस्थल पर हैकड़ों विष्णुओं के डंक की चोट करेंगे । आशीर्षन तुम उसी यन्त्रणा को भोगो, क्योंकि रामा—आपकी रामा—वा मैं अपनी आशा से विभवा न बनाऊँगा । रामा सती ! तेरे पुत्र्य से अन्न तप पति मृत्यु से बचा ।

(रामा समाट् को फिर फकड़ती है)

शुभ०—तुम्हारे समाट् की ! मुझे बच की आशा दीजिए, नहीं तो अन्तः ही निकलना चाहता है ।

सुम०—उत्तम शक ! मैं तुम्हें आशीर्षन बन्दी बनाऊँगा ।

(रामा आश्चर्य और दुःख से दहती है)

सुम०—शक ! यहाँ आओ ।

(शर्ष समीप आता है)

शेखरी—बस ! इसे किसी विषय का शासक बना कर भेजो, शर्षे दुलिया रामा को किसी प्रकार का कष्ट न हो ।

सुम०—शक ! तुम आज से अन्तर्देह के विषयविधि नियत किये गए । यह लो—(लहग देता है)

शुभ०—(लहग कसट से) समाट् देवता ! आपकी अय हो ! (शर्ष के पर पर गिर कर) माँ ! मुझे क्षमा कपे, मैं मनुष्य से

स्वप्नगुप्त

फट हो गया था ! अब तुम्हारी ही दया से मैं मनुष्य हुआ । आशीर्वाद दो बगदाजी कि मैं वेब चरखों में आत्मबलि देकर जीवन लड़ूँ !

देवकी—उठो । क्षमा पर मनुष्य का अधिकार है, वह फट के पास नहीं मिलती । प्रतिहिंसा पाशव धर्म है । उठो मैं तुम्हें क्षमा करती हूँ ।

(शर्ष लड़ा होता है)

स्वप्न०—मटार्क ! तुम इस गुप्त-साम्राज्य के महाबलाधिकृत निवृत्त किये गये थे, और तुम्हीं साम्राज्य-संरक्षणी महादेवी की हत्या के कुपक में सम्मिश्रित हो ! यह तुम्हाप अत्यन्त अप-पच है ।

मटार्क—मैं केवल राजमाता की आज्ञा का पालन करता था ।

देवकी—क्यों मटार्क ! तुम यह उच्च सभ्ये हरब से बेते हो क्या ऐसा कह कर तुम स्वयं अपने को भोजा देते हुए औरों को भी प्रभावित नहीं कर रहे हो ?

मटार्क—अपपच हुआ (सर नीचा कर देता है)

स्वप्न०—तुम्हारे ऊर्ध्व पर साम्राज्य को मरोसा था । तुम्हारे हरब पर तुम्हीं को मरोसा न रहे, वह बड़े पिस्तार की बात है । तुम्हाप इतना पतन ! (मटार्क स्तब्ध रहता है । विजया काँ और देत कर) और तुम विजया ! तुम क्यों इसमें—

देवसेना—उम्माद ! विजया मेरी सखी है ।

विजया परम्पु मैंने मटार्क को बरस किया है ।

अयमासा—विजया !

विजया—कर चुकी देवी ।

देवसेना—उठक लिए बूच उपाय न था राजाविजय !

श्रीशिव मनुष्य को इतना नीचे गिरा सकती है ! परन्तु विजया ने
प्रिया की ।

(रुद्र विजया की ओर दलते हुए विचार में पड़ जाता है)

माध्विन्द—यह बूढ़ा इती कृष्ण मयाक की माता है ! मयाक क
नीचे क्यों से तुली होकर यह उम्बमिनी खली आई है ।

रुद्र०—परन्तु विजया, तुमने यह क्या किया ।

दशसेना—(स्वगत) आह ! जिसकी मुक्त आराधना थी, वही
है । विजय ! आज तु हार कर भी जीत गई ।

श्वधी—कल ! आज तुम्हारे धूम महासिंघ में एक बूंद भी रक्त
न लिये । तुम्हारी माता की भी यह मंगल कामना है कि तुम्हारा
कृष्ण-रक्त धूम क संकेत पर बला करे । आज मैं सब क लिए
प्रार्थना करती हूँ ।

शुमारदास—आयनाही सही ! तुम बन्ध हो ! इती गौरव स
तुम्हारे रोग क विर उँबा रहेगा ।

रुद्र०—शैवी माता की इच्छा—

माध्विन्द—परमेश्वर परम महारक महाप्रजापियन सर्वेश्वर
की वर !!

[यवनिस्य]

तृतीय अंक

[शिवा-तट]

प्रपञ्चमुक्ति—एक विकृत हुआ। इस पुरात्मा स्कन्दगुप्त ने मेरी आशाओं के भंडार पर अर्पणा लगा दी। कुमुदपुर में पुरगुप्त और अनन्तदेवी अपने विद्वन्मना के दिन बिठा रहे हैं। मटाकें भी बन्दी हुआ, उसके प्राणों की रक्षा नहीं। क्रूर शर्मों की अवतारवा से भी एक बार सख्त के उठाने की आकांक्षा थी; परन्तु वह बुर गया। (कुछ सोच कर) उग्रताय की साधना से विकट से भी कार्य सिद्ध होते हैं, तो फिर इस महाकाल में महास्मरण से बन्दी कोन उपयुक्त स्थान होगा। चरूं—

मटाकें—मिष्टुशिरोमखे ! प्रणाम !

प्रपंच—कौन, मटाकें ! अरे मैं स्वप्न खेल रहा हूँ क्या !

मटाकें—नहीं प्रार्थ, मैं जीवित हूँ।

प्रपंच०—उसने तुम्हें शूली पर नहीं खड़ाया !

मटाकें—नहीं उससे बड़ कर !

प्रपंच०—क्या !

मटाकें—मुझे अपमानित करके घमा किया। मरी बीरता पर कुबद उपहार का शोभ लाद दिया।

प्रपंच०—तुम मूर्ख हो। शत्रु से बदला लेने का उपाय का साहिने, न कि उसका उपकारों का स्मरण।

मटाकें—मैं इतना नीच नहीं हूँ !

प्रपञ्च०—परन्तु मैं तुम्हारी प्रशंसा जानता हूँ। तुम इतने उच्च भी नहीं हो। खलो एकान्त में बैठ करे। कोइ छाटा है।

(दोनों आते हैं)

(विजया का प्रवेश)

विजया—मैं क्या बाऊँ ! उस उच्छृङ्खल बौर को मैं छोड़सुंलता परना सहेँगी ! उस अपने बाहु-पाश में तकड़ सकती हूँ ! हृदय क विफल मनोरथ ! आह !

(गाना)

उमड़ खली भिगोने आत्र,
तुम्हारा निरखल अण्डल खौर।
नयन-जल-भारा रे प्रतिकुञ्ज !
देख ले तू फिरकर इस ओर !

हृदय की अनारतम मुसक्यान
कल्पनामय तेरा यह विश्व।
लासिना में लय हा लयलान !
निरतते इन अरिों की खौर।

यह कान ! ओ ! राजकुमारी !

(दशसेना का प्रवेश—दूर पर उसकी परिवारिकों)

देषसना—विजया ! सार्यद्वल का रूप देखन शिमा-वट पर तुम भी धा गई हो !

विजया—हाँ राजकुमारी ! (सिर मुकुट लती है)

देषसना—विजया, अण्डल दुष्ठा, तुमसे भेंट हो गए, मुक दुष्ट शूद्रता या।

विजया—शूद्रता क्या है !

देषसना—क्या जो तुमन किया है, उस सोच-समझ कर ! करी

तुम्हारे दग्ध ने तुमको दृष्ट तो नहीं किया ! तीव्र मनोवृत्ति क क्याभाव ने तुम्हें विषवर्गाभिनी तो नहीं बना दिया !

विजया—राजकुमारी ! मैं अनुपरीत हूँ । उस कृपा को नहीं मूल सकती, जो आपने दिखाई है । परन्तु अब और प्रयत्न करके मुझे उधेचित करना ठीक नहीं ।

देवसेना—(आश्चर्य से) क्यों विजया ! मेरे सखी-जनोचित सरल प्रयत्न में भी तुम्हें व्यंग मुन्दरै पड़ता है !

विजया—क्या इसमें भी प्रमाद्य की आबरवकथा है ! राजकुमारी ! आज से मेरी और देखना मत । मुझे कृपा समिधाप की बाला समसत्ता और

देवसेना—उहो, दम ले लो ! संहर के गर्भ में गिरने के परल विवेक का अक्षय्यन लो लो विजया !

विजया—इहाय जीवन क्षिपता मन्मथक होता है—यह नहीं जानती हो ! उस दिन जिस तीली छुरी को रत्न के लिए मेरी हँठी उड़ाई जा रही थी, मैं समझती हूँ कि उसे रक्त लेना मेरे लिए आबरवक था । राजकुमारी ! मुझे न छोड़ना । मैं तुम्हारी शत्रु हूँ । (दाय से देखती है)

देवसेना—(आश्चर्य से) क्या कर रही हो !

विजया—वही जिसे तुम मुन रही हो ।

देवसेना—बह तो बैठे उन्मथ का प्रताप था अकस्मात् स्वप्न देव कर जग जग वाले प्राणी की कुन्दल-गत्या थी । विजया ! क्या मैंने तुम्हारे मुल में बाधा दी ! परन्तु मैंने तो तुम्हारे मार्ग को स्वच्छ करने के लिए रोड़ न पिल्ले ।

विजया—उपकारों की ओट से मेरे स्वर्ग को छिपा दिया, मेरी कामना-लता को उमूल उखाड़ कर कुचल दिया !

देवसेना—धीमठा करने वाली ली ! अपनी असाधपानी का दोष दूसरे पर न फेंक । देवसेना मूर्ख बेकर प्रथम नहीं लिया चाहती है ।
अच्छा, इससे क्या !

(जाती है)

विजया—साठी हो, परन्तु साधपान !

(मटार्क और प्रपंचबुद्धि का प्रवेश)

मटार्क—विजया ! तुम सब झार हो !

विजया—अमी अमी, तुम्हीं को तो खोज रही थी ।
(प्रपंचबुद्धि को देखकर) आप कौन हैं ?

मटार्क—‘योगाचार-संघ’ के प्रधान भगवत् आर्य्य प्रपंचबुद्धि ।
(विजया नमस्कार करती है)

प्रपंच०—कस्याय हो देवी ! मटार्क से तो तुम परिचित-सी हो,
परन्तु मुझे भी जान जाओगी ।

विजया—आर्य्य ! आपके अनुग्रह-शाम की बड़ी आकांक्षा है ।

प्रपंच०—धुमे ! प्रधानारमिता-स्वरूपा तारा तुम्हारी रक्षा
करे ! क्या तुम सद्दर्शन की सेवा के लिए कुछ उत्सर्ग कर सकोगी !
(कुछ सोचकर) तुम्हारे मनोरथ पूर्ण होने में विघ्न और क्लिष्ट है ।

इसीलिए तुम्हें अर्चन-धर्मचरण करना होगा ।

विजया—आर्य्य ! मेरा भी एक स्वाध है ।

प्रपंच०—क्या !

विजया—राजकुमारी देवसेना का अन्त !

प्रपंच०—और मुझे उग्रतारा की साधना के लिए महारमणान में
एक रात्रकलि चाहिए !

मटार्क—यह तो अच्छा सुयोग है ।

विजया—उसे दमणान तक ले आना तो मेरा काम है ; आगे मैं
कुछ न कर सकूँगी ।

प्रपञ्च—तब हो जायगा । उमठारा की कृपा से सब कुछ सुखमय होगा ।

मटार्क—परन्तु मैं कृतप्रथा से कर्णकित होऊँगा, और स्कन्दपुराण से मैं कित मूर्ख से नहीं, नहीं

प्रपञ्च—आवधान मटार्क ! अलग से जाकर इतना समझना, फिर भी ! तुम फल अनन्तरेमी और पुराण प्रविभूत हो चुके हो ।

मटार्क—ओह ! पाप-पद में लिप्त मनुष्य को सुदो नहीं ! कुम्भ उसे बकड़ कर अपने नागपाश में बाँध लेता है । दुर्भाग्य !

मातृगुप्त—(निरुत्तर कर) भवानक कुपक ! एक निर्मल कुसुम कली को कुपलने के लिए इतनी बड़ी प्रताख्य की चरकी ! मनुष्य ! तुम्हें हिता का उतना ही लोभ है, जितना एक मूल मेड़िये को । तब भी तेर पाठ उतसे कुछ विशेष साधन हैं—दण्ड, कपट, विस्वातपात, कृतप्रथा और पैमे अन्न । इनसे भी पढ़ कर प्राण लभे की कलाकुशलता । बेसा जायगा, मटार्क ! तुम जाते नहीं हो !

[जाता है]

(स्मरान में साधक-रूप से प्रपन्नबुद्धि । दूर से स्कन्दगुप्त
टहलता हुआ जाता है)

स्कन्द०—इस साम्राज्य का बोक किसके लिए ? हृदय में अशान्ति,
राज्य में अशान्ति, परिवार में अशान्ति ! केवल मेरे अस्तित्व से ?
मालूम होता है कि सब की—विश्व-भर की—शान्ति-रजनी में मैं ही
धूमकेतु हूँ, यदि मैं न होता, तो यह संसार अपनी स्वामाबिक गति से,
आनन्द से, चला करता। परन्तु मेरा तो निज का कोई स्वार्थ नहीं,
हृदय के एक-एक कोने को छान डाला—कहीं भी क्षमता की धन्या
नहीं। बलवती आशा की आँधी नहीं चल रही है। केवल गुप्त
सम्राट् के वंशपर होने की दयनीय दशा ने मुझे इस रहस्यपूर्ण
क्रिय-कलाप में संलग्न रक्खा है। कोई भी मेरे अन्तःकरण का
आश्रितन करके न रो सकता है, और न तो हँस सकता है। तब भी
विजया ! ओह ! उसे स्मरण करके क्या होगा। जिसे हमने मुक्त
शर्बरी की सन्ध्यातारा के समान पहल्ले देखा, वही उलकाविड होकर
दिग्भ्रम-दाह करना चाहती है। विजया ! तूने क्या किया ? (देखकर)
ओह ! केता भयानक मनुष्य है ! केसी क्रूर आकृति है ! मूर्च्छिमान
विशाल है ! अशुभ, मातृगुप्त तो अभी तक नहीं आया। दिन
कर देखो ।

(क्षिपता है)

(विजया के साथ देवसेना का प्रवेश)

देवसेना—आज फिर तुम किस अभिप्राय से आई हो ?

विजया—और तुम राजकुमारी ? क्या तुम इस महा भयानक
स्मरान में आने से नहीं डरती हो ?

देवसेना—संसार का भूक शिखर 'स्मरान' क्या डरने की वस्तु
है ? जीवन की नरकरता के साथ ही सदात्ता का उत्थान का एसा सुन्दर
स्थल और कौन है ?

(नेपथ्य से गान)

सब जीवन बीता जाता है

घूप-झोंह के तेल-सदृश ।—सब०

समय मागता है प्रतिक्षण में,

नव अतीत क तुषार क्षण में,

हमें लगा कर मणिप्य-रण में,

आप कहों क्षिप जाता है ।—सब०

बुलने, लहर, हवा के झोंके,

मेघ और बिजली के टोंके,

किसका साहस है कुछ रोके,

जीवन कर यह माता है ।—सब०

बंगी को बस बच जाने दो,

मीठी मीठों को आने दो,

आँस बन्द करके गाने दो,

ओ कुछ हमको आता है ।—सब०

बिजया—(स्तव) माव विमोर वर की रागिनी सुनती हुई
 पर पुरंगी-सी कुमारी आह ! कैसा मोला मुग्धा है ! नहीं नहीं
 बिजवा ! लावपान ! प्रतिहिंसा (प्रकट) राजकुमारी ! बेलो,
 पर कोई बग सिद्ध है, वहाँ तक चलोगी ?

देवसेना—बलो, परन्तु मुझे सिद्ध स क्या प्रयोजन ! जब मेरी
 कामनाएँ विस्मृति के नीचे दबा दी गई हैं, तब बर खादे स्वयं ईश्वर
 ही हो तो क्या ! तब भी एक कुतरल है, बलो—(बिजया देवसेना
 को आगे कर प्ररश्चुद्धि के पास ल जाती है और आप हट जाती है ।
 ध्यान स आँस गाल कर प्रपंच उसे रसता है ।)

प्रपंच०—मुझारा नाम देवसेना है !

श्रेयसेना—(आश्चर्य से) हाँ मगबन् !

प्रपञ्च०—तुमको देवसेवा के लिए शक्ति प्रस्तुत होना होगा।
 तुम्हारी कलाट लिवि बूट रही है कि तुम बड़ी माग्यवती हो।
 देवसेना—औन सी देवसेवा।

प्रपञ्च०—पर नस्तर शरीर, त्रिसङ्ग उपनाग तुम्हारा प्रेमी भी न
 कर सका और न करने की आशा है, देवसेवा में अर्पित करो। उमठारा
 तुम्हारा परम मंगल करगी।

देवसेना—(सिहर उठती है) क्या तुम अपनी बलि देनी
 रागी ? (घूम कर देखती है) बिजया ! बिजया !!

प्रपञ्च०—डरो मत, तुम्हारा ध्यान इसीलिए था। नित्य की मार
 ज्वाला में ललने से तो बड़ी अच्छ है कि तुम एक लामक का उपकार
 करती हुई अपनी ज्वाला शान्त कर दो।

देवसेना—परन्तु अपालिक। एक और भी आशा मर
 हृदय में है। बर पूर्ण नहीं हुई है। मैं डरती नहीं हूँ, केवल उसके पूरा
 नेम की प्रतीक्षा है। बिजया के स्थान को मैं कदापि न प्रदण करूँगी।
 मे भ्रम है, यदि यह छूट जाता

प्रपञ्च०—(उठ कर उसका हाथ पकड़ कर सङ्ग उठता है)
 पर तुम्हें टहरने का अयकाय नहीं। उमठारा की इच्छा पूरा हो।
 देवसेना—प्रियतम ! मेरे देवता मुकराज ! ! तुम्हारी बय हो !

(सिर झुकाती है)
 (पीछे से मातृगुप्त आकर प्रपञ्च का हाथ पकड़ कर मध्य में
 ल जाता है, देवसेना अर्पित होकर स्कन्द का आसिगन करती है ।)

(मगध में अनन्तदेवी, पुरगुप्त, विजया और मटार्क)

पुरगुप्त—विजय पर विजय । देखता हूँ कि एक बार बंधुवट पर गुप्त-साम्राज्य की पताका फिर फहरायगी । गरुडम्ब बंधु के रेतीले मैदान में अपनी स्वर्ण-ममा का विस्तार करेगा ।

अनन्त०—परन्तु तुमको क्या ? निर्भीर्य, निरीह बालक ! तुम्हें भी इसकी प्रसन्नता है ! लज्जा के गण में हूँ ही जाते । और भी छद्मी पुच्छाकर इसका आनन्द मनाते हो !

विजया—अहा ! यदि आज राजाधिराज ब्रह्मर मुचराज पुरगुप्त का धर्मिनन्दन कर सधती !

मटार्क—यदि मैं जीता रहा तो वह भी कर दिखानेगा ।

(दौपारिक का प्रवेश)

दौपारिक—जय हो । एक घर आया है ।

मटार्क—ले आओ ।

(दौपारिक जाकर घर को लिखा लाता है)

घर—मुचराज की जय हो ।

मटार्क—तुम कहाँ म आये हो ?

घर—नगरहार क हृष-रु-भावार में ।

मटार्क—क्या संदेश है ?

घर—सेनापति क्षिप्र न पूछा है कि मगध की गुप्तपरिषद् क्या कर रही है ? उसके प्रबुर अर्भ लेकर भी मुझे ठीक समय पर बोला दिया है । परन्तु स्मरण रहे कि अबकी हमारा धर्मियान सीधे कुमुमपुर पर होगा, स्कन्दगुप्त का साम्राज्य-ध्वंस पीछे होगा । परल कुमुमपुरी मणि-रत्न भंडार लूटा जायगा । प्रतिष्ठान और परगात्रि तथा गोश्रि के दुर्गरतियों को घन विद्रोह करने के लिए परिषद् की आज्ञा म भेजा गया था, उसका क्या फल हुआ ? अन्तर्बेद क विरगति की क्षुब्ध दृष्टि न उस रहस्य

अ उद्घाटन करके यह धन भी आत्मसात् कर लिया और स्थायता के बदले हम लोग प्रवर्धित हुए, जिससे हूयाँ को किन्तु का छट छोड़ देना पड़ा।

मटाक—ओह ! रामनाग ने बड़ी सावधानी से काम लिया। आचार्य प्रपञ्चबुद्धि का निष्पन्न होने से यह सब बुझटना हुई ही हुई ! हूयाराज से कहना कि पुरगुप्त को सम्राट बनाने में तुम्हें सहाय्य सहायता करनी पड़ेगी।

धर—परन्तु उन्हें विश्वास कैसे हो !

मटाक—मैं प्रमाणपत्र दूँगा हूयाँ को एक बार ही भारतीय सीमा से दूर करने के लिए स्कन्दगुप्त ने समस्त धमन्तों को धामन्त्रण दिया है। मगध की रक्षक सेना भी उसमें सम्मिलित होगी, और मैं ही उसका परिचालन करूँगा। बही इसका प्रयत्न प्रमाण मिलेगा। और यह तो प्रमाणपत्र। (पत्र खोलकर देता है)

पुरगुप्त—ठहरो।

अनन्त—बुप रहो।

दूत—तो यह उपहार भी साम्राज्ञी के लिए प्रस्तुत है।
(रत्नों से भरी हुई मञ्जूषा देता है)

मटाक—और उत्तरायण के समस्त धर्मसंघों के लिए क्या प्रा है !

दूत—आय महाभक्त्य के पास में ही आय है। समस्त सद्धर्म के अनुयायी और संघ, स्कन्दगुप्त के विरुद्ध हैं। याज्ञिक क्रियाओं की प्रवृत्त से उनका हृदय धर्मनाश के मय से भरपूर चला है। अब किप्रोह करने के लिए उत्सुक हैं।

मटाक—अच्छ, जाओ। नगाधार के गिदिगि का मुख इसका निबन्धन करेगा। हूयाराज से कहना कि सापमान रहें, धीमे बही मिलेंगा
(दूत प्रणाम करके जाता है)

पुरगुप्त—यह क्या हो रहा है !

अनन्त०—आपके सिंहासन पर बैठने की प्रस्तावना है !

(सैनिक का प्रवेश)

सैनिक—महादेवी की आज्ञा हो !

मटार्क—क्या है !

सैनिक—कुसुमपुर की सेना बालम्बर से भी आगे बढ़ चुकी है। साम्राज्य के स्वभावहार में शीघ्र ही उसके पहुँच जाने की संभावना है।

पुरगुप्त—विजय ! बहुत बिलम्ब हुआ। एक पात्र

(अनन्तदेवी समेत करती है, विजया उसे पिलाती है)

मटार्क—मेरे अरबों की व्यवस्था ठीक है न ! मैं उसके पहले पहुँचूँगा।

सैनिक—परन्तु महाबलाधिकृत !

मटार्क—क्या ! क्यों !

सैनिक—यह राष्ट्र का आपत्ति काण्ड है, युद्ध की आशोकनाश्री का बरले हम कुसुमपुर में आपानकों का सम्मरोह देख रहे हैं। राजधानी बिलासिठा का केन्द्र बन रही है। यहाँ के मनुष्यों के लिए बिलास के उपकरण बिकरने रहने पर भी अनर्थाप्त हैं। नये-नये साधन और नवीन कल्पनाओं से भी इस बिलासिठा राज्य की का पेट नहीं भर रहा है। मला मगध के बिलासी सैनिक क्या करेंगे !

मटार्क—अबाध ! जो बिलासी न होगे वह भी क्या बीर हो सकता है ! जिस भाति में जीवन न होना वह बिलास क्या करेगी ! आपत्त राष्ट्र में ही बिलास और कलाओं का आदर होता है। और एक कान से तज्ज्वारों की और वृत्तों से मुपूरों की झलझर सुनते हैं।

विजया—रात तो पारी है।

सैनिक—आप महाबलाधिकृत हैं, इसलिए मैं कुछ नहीं करूँगा।
 मटारक—नहीं तो!

सैनिक—यदि दूतपत्र कोई ऐसा करता, तो मैं यही उससे करता
 कि तुम देय के यत्न हो।
 मटारक—(क्रोध से) हूँ

सैनिक—हाँ, बबनो से उबार ली हुई सम्पत्ता नाम की
 विद्याविता के पीछे आर्य्य जाति उठी तरह पड़ी है, जैसे कुलबपू
 को छोड़कर कोई नागरिक बेर्या के चरणों में। देय पर बर्बर
 हृणों की बर्तार और तिस पर भी यह निलज्र आमोद। आर्य्य
 जीवन के निर्वाणोन्मुख प्रदीप का यह हस्म है। आह ! तिस
 मगध देय की सेना सदैव नासीर में रहती थी, आर्य्य चन्द्रगुप्त
 की बड़ी विजयनीय सेना सब के पीछे निर्मन्त्र्य पाने पर साम्राज्य
 सना में आय। महाबलाधिकृत ! मेरी तो इच्छा होती है कि मैं
 आत्म-हत्या कर लूँ। मैं उस सेना का नायक हूँ, तिस पर गरुड-
 पत्र की रक्षा का भार रहता था। आर्य्य चन्द्रगुप्त की प्रतिष्ठित
 उस सेना का ऐसा अपमान।

मटारक—(अपने क्रोध के मनोभाव दबा कर) अच्छा, तुम यही
 मगध की रक्षा करना, मैं जाता हूँ।

सैनिक—हूँ, अच्छा तो यह जह्म लीजिए, मैं आत्म से मगध
 की सेना का नायक नहीं। (सहर्ग देता है)

पुरगुप्त—(मगध की-सा खेप्टा बनाकर) यह अच्छा किया,
 आओ तिस ! हम तुम कादम्ब पीये। जाने दो इन्हें। इन्हें लाजने दो!

अनन्तदेवी—(मटारक को सकेत करती हुई ले जाती है, और
 (सैनिक तिरस्कार का दृष्टि से देखते हुए जाता है। मटारक और
 अनन्तदेवी एक ओर, तिस और पुरगुप्त दूसरी ओर जाते हैं।)

(उम्बन)

(जयमाला और देवसेना)

जयमाला—तू उदाठ है कि प्रसन्न, कुछ सम्मत् में नहीं आता ! जब तू गायी है, तब मेरे भीतर की पगिनी रोती है, और जब हँसती है तब जैसे विषाद की प्रस्तावना होती है !

१—सखी—सम्राट् मुझ-यात्रा में गये हैं और

२—सखी—तो क्या ?

देवसेना—तुम सब भी मामी के साथ मिल गई हो । क्यों मामी । गढ़कें बह गीत !

जयमाला—मेरी प्यारी ! तू गायी है । अदा ! बड़ी-बड़ी आँसू तो बरसती ताक-सी लहर रही हैं । तू बुझी होती है । ल, मैं आती हूँ । आती ! तुम सब इसे हँवाओ ! (जाती है)

देवसेना—क्या महारथी हार कर मरी ! अब तुम सब जूट सेनिकों की पाटी है ? अर्थात् तो आओ ।

१—सखी—नहीं, राजकुमारी ! मैं पूछती हूँ कि सम्राट् ने तुमसे कमी शपना का थी !

२—सखी—हाँ, तभी तो प्रेम का मुक्त है ।

३—सखी—तो क्या मेरी राजकुमारी स्वयं प्रार्थिनी होगी ? उहूँ !

देवसेना—प्रायना किये की है, यह पक्ष की बात है । क्यों ? कहूँ ! प्रायना हुई है मालव की ओर से, लोग कहेंगे कि मालव देकर देवसेना का म्याह किया जा रहा है ।

१—सखी—न करो, तब फिर क्या—दरी-दरी कोस्तों की रङ्गी में पूरा लिल रहा है—धीर क्या !

देवसेना—उपेय मुँह काणा और क्या ! निर्दय होकर आघात मत कर, मम बड़ा कोमल है । कोई दूसरी हँसी तुम्हें नहीं आती !

(मुँह फेर लेती है)

२-सखी—कल्पभेद ठीक हुआ-सा देलती हूँ।
 देयसेना—क्यों पाव पर नमक छिड़कती है? मैंने कभी उनसे प्रेम
 की चर्चा करके उनका अपमान नहीं होने दिया है। नीरव जीवन और
 एकान्त व्याकुलाता, कचोटने का मुल मिलाता है। सब हृदय में बदन
 का स्वर उठता है, सभी संगीत की बीया मिला लेती हूँ। उसी में सप
 क्षिय जाता है।

(आँसों से आँसू बहता है)

१-सखी—है, क्या तुम रोती हो! मेरा अपराध क्षमा
 करो!

देयसेना—(सिसकती हुई) नहीं प्यारी सखी! आज ही मैं प्रेम
 नाम पर भी लोख कर रोती हूँ; बस, फिर नहीं। यह एक क्षण का
 बदन अनन्त स्वर्ग का सृजन करेगा।

२-सखी—तुम्हें इतना दुःख है, मैं क्या कल्पना भी न कर
 सकती थी।

देयसेना—(समझलकर) यही तु मूलती है। मुझ को इहाँ में
 मुल मिलाता है, मेरा हृदय मुझसे अनुरोध करता है, मचलता है, रुठता
 है, मैं उसे मनाती हूँ। आँसू प्रणय-कण्डह उत्पन्न कराती है, विस्त
 उचक्रित करता है, बुद्धि मिडकती है, अन कुछ मुनवे ही नहीं। मैं
 व को समझाती हूँ, विबाद मियती हूँ। सखी! फिर भी मैं इधो
 गङ्गा लू कुट्टम् में प्यस्दी सम्हालकर, स्वल्प होकर, बैठती हूँ।

३-सखी—आरक्ष्य! राजकुमारी! तुम्हारे हृदय में एक परासती
 नदी बेग से मरी है।

देयसेना—इन्हीं में उफन कर बहने वाली नदी, तुमल तरंग
 प्रबन्ध पवन और भयानक बर्षा! परन्तु उसमें भी नाव सखानी
 ही होगी।

१—सखी

(गान)

माझी ! साहस हे खे लोगे !

ज्वर तरी मरी पक्षी से—

मूढ मे क्या खालीगे !

अलस नील धन की दया मे—

जलवाली की झल-माया मे—

अपना धन तोलीगे !

अनधान तट की मदमाती—

सहरे, सितिब भूमती आती !

ये मूढक भेलाग ! माझी—

(भीमवर्मा का प्रवेश)

भीम०—बहिन ! शक-मण्डल से दिग्गज का समाचार आया है ।

देवसेना—मगवान् की दया है ।

भीम०—परन्तु, महाराज्युक्त गोविन्दगुप्त कीर्त्याति को प्राप्त हुए,
पर बड़ा !

देवसेना—मे धन्य है ।

भीम०—बीर-शय्या पर सोते-सोते ठहान अनुरोध किया कि महाराज बन्धुवर्मा गुप्त-साम्राज्य क महाबलाधिकृत बनाये जायें, इसलिए अभी मे रङ्गभावार में ठहरैगे । उनका आना अभी नही हो सकता । धीरे मी कुछ तुना देवसेना ।

देवसेना—क्या !

भीम०—सभार ने तुम्हें बचाने के पुरस्कार स्वरूप मातृगुप्त की काश्मीर का शासक बना दिया है । गांधारवंशी घमा अप वहाँ नही है । काश्मीर अब साम्राज्य क अन्तर्गत हो गया है ।

देवसेना—सम्राट की महानुभावता है। माई! मेरे प्राणों का इतना मूल्य ?

भीम०—आर्य-श्रावण्य का उदार हुआ है। बहिन! किन्तु के प्रदेश से श्लेष्म-राज च्युत हो गया है। प्रवीर सम्राट् स्कन्दगुप्त ने पित्रमादित्य की उपाधि पारण्य की है। गौ, ब्राह्मण और देवताओं की ओर कोई भी आततायी आँसू उठा कर नहीं देखता। लौहित्य से सिन्धु तक, हिमालय की बन्दरगाहों में भी, स्वच्छन्दता-पूर्वक सामगान होने लगा। धन्य हैं हम लोग जो इस दृश्य को देखने के लिए जीवित हैं!

देवसेना—मंगलमय मंगलान् सब मंगल करेंगे। माई, साहस चाहिए, कोई बस्तु असम्भव नहीं।

भीम०—उत्तरापथ के मुशाकन की ध्वस्तता करके परम महारथ सीम आँवेंगे। मुझ अभी स्नान करना है, जाता हूँ।

देवसेना—माई! तुम अपने शरीर के लिए बड़े ही निश्चिन्त रहत हो। और कामों के लिए तो

(भीम हँसता हुआ जाता है)

(मुद्गल का प्रवेश)

मुद्गल—जो दे सो काश्याम करके यह तो अपने मन नहीं हो जाता। उहँ, जब कोई न मिला तो फूट टोल की तरह मरे गले पड़ी।

देवसेना—क्या है मुद्गल ?

मुद्गल—यही-यही, सीता की सखी, मन्दोदरी की नानी विभ्रय। वहाँ है मातृगुप्त ज्योतिषी की दुम ! अपने को कवि भी लगाता था। मेरी कुण्डली मिलाई या कि मुझ मिट्टी में मिलाया। शपथ दूँगा। एक शान ! दान पीस कर, शपथ उठा कर, शिखा खोलते हुए आशुष्य का लक्षणदादा बन आऊँगा। मुझे इस मर्ममट में कैसा दिया ! उसने क्या मरा ब्याह कराया !

देवसेना—ता क्या बुरा किया ?

मुद्गल—भूल मारा, जो है सो क्षाम करके ।

देवसेना—धरे म्याह भी तुम्हारा होता ?

मुद्गल—न होता तो क्या इसते भी बुरा रहता ? बाबा, अब तो मैं इस पर भी प्रसुत हूँ कि कोई इसको फेर ले । परन्तु वह हत्या बौन अपने फलत बचिगा ।

(सध हँसती है)

देवसेना—आज बौन-वी तिथि है ? एकादशी तो नहीं है ?

मुद्गल—हाँ, यजमान के घर एकादशी और मरे पाएय की द्वादशी, क्योंकि ठीक मध्याह्न में एकादशी के ऊपर द्वादशी चन्द्र बैठती है, उसका यथा दशा बेठी है, पट पचकन लगता है ।

देवसेना—अच्छ, आज तुम्हाय निमजण है—तुम्हारी स्त्री के साथ ।

मुद्गल—जो है सो देवता प्रसन्न हो, आपका कन्याय हो ! छिद्र शीमता होनी चाहिए । पुण्यशास्त्र भीत न जाय चक्षिण मैं उस बुला छेता हूँ । (जाता है)

[सन का प्रत्याग]

[गान्धार की घाटी—रस क्षेत्र]

(सरही घबराती है, स्कन्दगुप्त और धन्ववर्मा के साथ
सैनिकों का प्रवेश)

धन्वु०—बीरो ! तुम्हारी विषयविजयिनी वीर-गणधा सुर
मुन्दरिमो की बीशा के साथ मन्द प्बनि से नन्दन में गौं उठेगी ।
असीम साहसी आर्य-सैनिक ! तुम्हारा शत्रु ने वर्षर हूणों को बठा
दिया है कि पक्ष-विषा क्वल नृशसता नहीं है । जिनके ध्यातक से
आज विश्वविस्मात कम साम्राज्य पादाग्रन्त है, उन्हें तुम्हारा लोहा
मानना होगा और तुम्हारे पैरों के नीचे दम हुए कठ से उन्हें स्वीकार
करना होगा कि भारतीय तुजें वीर हैं । समझ लो—आज क
सुख में प्रत्यापचन नहीं है । जिसे लौटना हो, अभी ने लौट आय ।

सैनिक—आर्य-सैनिकों का अपमान करने का अधिकार
महाबल्यभिहृत को भी नहीं है । हम सब प्राण देने आये हैं,
सेलने नहीं ।

स्कन्द०—साधु ! तुम यथार्थ ही बननी जन्म-भूमि की सन्तान हो ।

सैनिक—राजाविराज भी स्कन्दगुप्त पित्रमादित्य की जय !

(चर का प्रवेश)

चर—परम महारक की जय हो !

स्कन्द०—क्या समाचार है ?

चर—देव ! हूय शीम ही नदी क पार होकर आक्रमण की प्रतीक्षा
कर रहे हैं, परन्तु यदि आक्रमण न हुआ, तो स्वयं आक्रमण करेंगे ।

धन्वु०—और कुना के रसक्षेत्र का क्या समाचार है ?

चर—मगध की सेना पर विन्वात करने क लिए मैं न
हूँ । मरार्क कि दृष्टि में विशाख की मंथणा चल रही है ।
बलिष्ठ के दूत भी आ रहे हैं । पञ्चपाकित उठ कूट पक को ठोक
वेंगे कि नहीं, इतमें सन्देह है ।

स्कन्द०—बन्धुवर्मा ! तुम कुमा के रक्षक्षेत्र की ओर जाओ, मैं यहाँ देख लूँगा ।

बन्धु०—राजाभिराज ! मगध की सेना पर अभिघ्नर रखना मेरे सामर्थ्य के बाहर होगा, और मालव की सेना आज नासीर में है । आज इस नदी की तीव्र धारा को छाव करके बहा देने की मेरी प्रतिज्ञा है । आज मालव का एक भी सैनिक नासीर-सेना से न हटगा ।

स्कन्द०—बन्धुवर्मा ! वह क्या मुझ्ठ मत छीन लो ।

बन्धु०—परन्तु उसके प्राण देने के स्थान मित्र हैं । वहाँ मालव की सेना मरेगी, दूसर को यहाँ मार कर अभिघ्नर अमान का अभिघ्नर नहीं । और बन्धुवर्मा मरने-मारने में जितना पटु है, उतना पटु ब्रह्म लोड़ने में नहीं । आजकल रहन से छी बन्धुवर्मा उत्सव होगी । आप शीघ्रता कीजिए ।

स्कन्द०—बन्धुवर्मा ! तुम बड़ कठोर हो ।

बन्धु०—शीघ्रता कीजिए । वहाँ हूशों को राक्षस मरा ही कसम है उसे मैं ही करूँगा । महाबलाभिहत का अभिघ्नर मैं न छोड़ूँगा । अक्रपाशित बौर है, परन्तु अमी वह नबबुवक है, आजकल वह पहुँचना आवश्यक है । अटार्क पर बिबास न कीजिए ।

स्कन्द०—मैंने समझ कि हूशों क सम्मुख वह बिबासका न करेगा ।

बन्धु०—छोड़ ! बित्त दिन देखा हो आजगा, उस दिन की भी हजर आंस उठाकर न रखगा । अजाड ! शीघ्रता कीजिए ।

स्कन्द०—(आसिगन करता है) मालवेश की अब !

बन्धु०—राजाभिराज भी स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य की अब !

(चर क साथ स्कन्दगुप्त जाती ह)

[नेपथ्य में रणबाद्य। शत्रु-सेना आती है। हथों की सेना में। वकट मुद्र। हथों का मरना, घायल होकर भागना। बन्धुवर्मा की अन्तिम अवस्था, गरुडपञ्च टुक कर उस चूमना]

बन्धु—(दम तोड़ते हुए) विजय ! तुम्हारी विजय !
आर्य्य-साम्राज्य की जय !

गण—आर्य्य-साम्राज्य की जय !

बन्धु—माह ! स्कन्दगुप्त से कहना कि मालव-वीर ने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की, भीम और दमना उनकी शरण्य हैं।

सैनिक—महाराज ! आप क्या कहते हैं (सप शाक करते हैं)

बन्धु०—बन्धुगण ! यह रोग का नहीं, आनन्द का समय है।
भीम वीर इसी तरह जन्म-भूमि की रक्षा में प्राण देता है, यही मैं ऊपर से देखन जाता हूँ।

सैनिक—महाराज बन्धुवर्मा की जय !

(गरुडपञ्च की छाया में बन्धुवर्मा की मृत्यु)

[दुर्ग के सम्मुख कुभा का रणक्षेत्र , पक्षपातित और स्कन्दगुप्त]

धर्म०—सम्राट् ! प्रताप्या की पटाकाष्टा ! दो दिन से जान-बूझ कर शत्रु को उस ऊँची पहाड़ी पर हमने का अबकाश दिया जा रहा है । आक्रमण करने से मैं रोका जा रहा हूँ । समस्त मगध की सेना उसका संकट पर चला रही है ।

स्कन्द०—चक्र ! कुभा में मल बहुत कम है, आज ही उतरना होगा । तुम्हें दुर्ग में रहना चाहिए । मैं मठार्क पर विश्वास तो करता ही नहीं , परन्तु उस पर प्रकट रूप से अविश्वास का भी समय नहीं रहा ।

धर्म०—नहीं सम्राट् ! उसे बन्नी कीभिए । यह देखिए—
जा रहा है ।

मठार्क—(प्रवेश करके) राज्यविपन्न की भय हो !

स्कन्द०—क्यों सेनापति ! यह क्या हो रहा है !

मठार्क—आक्रमण की प्रतीक्षा सम्राट् !

स्कन्द०—या समय की !

मठार्क—सम्राट् का मुझपर विश्वास नहीं है, यह

धर्म०—विश्वास तो कहीं से रूप नहीं किया जाता ।

मठार्क—तुम अभी बालक हो ।

धर्म०—तुल्यपारी ! इतना ! अभी मैं तेरा कलजा पकड़ लाता ,

तेरा

!

मठार्क—मावधान ! अब मैं सहन नहीं कर सकता !

(सलवार पर हाथ रखता है)

स्कन्द०—मठार्क ! वह बालक है । फूटमबधा, पाकपातुरी नहीं जानता । चुन रहो चक्र !

(पक्षपातित और मठार्क सिर नीचा कर लेते हैं)

स्कन्द०—मठार्क ! प्रसन्नता का समय नहीं है । स्मरण

रखना—कृपण और नीचों की भेषी में तुम्हारा नाम पहले रहेगा।

(मटार्क चुप रह जाता है)

स्कन्द०—युद्ध के लिए प्रस्तुत हो !

मटार्क—मेरा लड़ग साम्राज्य की सेवा करेगा।

स्कन्द०—अच्छ तो अपनी सेना लेकर तुम गिरिसिंह पर पीछे से आक्रमण करो और सामने से मैं आता हूँ। चक्र ! तुम युग की रक्षा करो।

मटार्क—बैठी आशा। नगरहार के स्कन्धाधार को भी सहायता के लिए कहला दिया जाय तो अच्छा हो।

स्कन्द०—खर गया है। तुम शीघ्र जाओ। देखो—सामन शत्रु नील पड़ते हैं।

(मटार्क का प्रस्थान)

शक्र०—तो मैं बैठा हूँ।

स्कन्द०—मन्त्रित्व अच्छा नहीं है चक्र ! नगरहार से समय पर सहायता पहुँचती नहीं दिम्बार देती। परन्तु, यदि आसदयकता हो, तो शीघ्र नगरहार की ओर प्रत्यावर्तन करना। मैं वहीं तुमसे मिलूँगा।

(खर का प्रवेश)

स्कन्द०—गांधार-युद्ध का क्या समाचार है ?

खर—विजय। उस रणक्षेत्र में हूय नहीं रह गय, परन्तु सम्राट् सन्तुषर्मा नहीं है।

स्कन्द०—आह बभ्रु ! तुम चला गय ? धन्य हो शीर-हृदय ?

(शोकमुद्रा में बैठ जाता है)

खर०—इसका समय नहीं है उध्वाट् उठिए, सजा आ रही है, इस समय यह समाचार नहीं प्रचारित करना है।

स्कन्द०—(उठते हुए) ठीक कहा !

(मटार्क का सावधानी का प्रवेश)

स्कन्द०—देखो, कुमा के उस क्षण से सावधान रहना । आक्रमण में यदि असफलता हा खीर शत्रु की वृद्धी सेना कुमा को पार करना पड़े, तो उसे काट देना । देखो मटार्क ! तुम्हारे विश्वास का यही प्रमाण है ।

मटार्क—श्रेणी आपकी आज्ञा ।

(कुछ सैनिकों के साथ जाता है)

स्कन्द०—बक ! दुर्ग-रक्षक सैनिकों को लेकर तुम प्रतीक्षा करना । हम इतनी छोटो-सी सेना से आक्रमण करगे । तुम सावधान ! (नयन से रणक्षय) देखो—यह दृश्य था रहे हैं ! उम्हें यही रोकना होगा ।

मटार्क—श्रेणी आज्ञा । (जाता है)

स्कन्द०—शौर मगध-सैनिकों ! आज स्कन्दगुप्त तुम्हारी परिपालना कर रहा है, यह प्यार रहे, गरुडपुत्र का मान रहे, भक्त ही प्राण्य जावें ।

मगध-सेना—राजाधिराज भी स्कन्दगुप्त विक्रमशिव की उय !

(सेना बढ़ती है ऊपर से अस्त्रवर्षा होती है, धीरे धीरे क बाद हथ मारते हैं । साम्राज्य-सेना का, जयनाद करते हुए, शिखर पर अधिकार करना ।)

नायक—(ऊपर दसता हुआ) लज्जा ! आश्चर्य है, मागी हुई हथ-सेना कुमा के उस पार उतर जाना चाहती है !

स्कन्द०—क्या कहा !

नायक—बुद्ध मगध-सेना भी यहाँ है, परन्तु यह तो जय उतना स्वागत कर रही है !

स्कन्द०—विश्वासघात ! प्रताप्या ! नीच मटार्क !

नायक—दिर क्या आज्ञा है !

स्कन्द०—दुग की रक्षा होनी चाहिए। उस पार की हृन्-मना यदि आ गई, तो हृन्-मना ठहरे मार्ग बनावण। घीरा, शीघ्र ठहरे उसी पार रोकना होगा। अमी कुभा पार होन की सम्भावना है।

(नायक तुरही पजाता है, सनिक इकट्ट हाते ह)

स्कन्द०—(घबराहट म दसते हुए) शीघ्रता कथ !

नायक—क्या ?

स्कन्द०—नीच मयक ने पथ तोड़ लिया है, कुभा में जल बड़ बग म बड़ रहा है। चलो शीघ्र—

(सध उतरना चाहते हैं, कुभा में अकस्मात् जल बड़ जाता है ।

सध बहत हुए दिगाइ दत ह ।)

[अन्वय]

चतुर्थ अंक

[प्रक्षोभ]

(विजया और अनन्त दबी)

अनन्त०—क्या कहा ?

विजया—मैं आब ही पासा पलट सकती हूँ। जो मूला ऊपर उठ रहा है, उस एक ही भटके में पूरपी घूमने के लिए विषय कर सकती हूँ।

अनन्त०—क्यों ? इतनी उत्तमना क्यों है ? तुनू भी तो।

विजया—समझ जाओ।

अनन्त०—नहीं स्पष्ट करो।

विजया—भटाक मरा है।

अनन्त० तो ?

विजया—उस राह में घूमने को हत्याना होगा।

अनन्त०—कौन खीन रहा है ?

विजया—एक पाप-पक पँती हुई निलम्ब नारी। क्या उमका नाम भी बताना होगा ? समझे नहीं तो साम्राज्य का स्वप्न गला दवा कर भग कर दिया जायगा।

अनन्त०—(हँसती हुई) मूल रमणी ! तेरा भटाक केवल मर काय-जापन का अग्र है, और कुछ नहीं। वह पुरगुप्त क ऊँचे सिद्धान्त की सीधी है, समझी ?

विजया—समझी ; और तुम भी जान लो कि दुश्मन नाश करनीय है।

अनन्त०—(बनाती हुई) क्या तुम पुरगुप्त के साथ सिंहासन पर नहीं बैठना चाहती हो ! क्यों — वह भी तो कुमारगुप्त का पुत्र है ?

विजया—हाँ, वह कुमारगुप्त का पुत्र है, परन्तु वह तुम्हारे गम से उत्पन्न है ! तुमसे उत्पन्न हुए खन्तान—छि !

अनन्त०—क्या कहा ! समझ कर करना ।

विजया—कहती हूँ, और फिर कहूँगी । प्रथोमन से, धमकी से, भय से, कोई भी मुझको भयार्क से नहीं विचित्र कर सकता । प्रणय-व्यभिचारा नियाँ अरनी राह को रोके—विमो—का वृत्त करने के लिए बर्र से भी हठ होती है । हृदय को छीन छेने वाली स्त्री के प्रति हठव्यक्ता समशी पहाड़ी नदियों से भयानक, बालामुर्खी के विलघाट से भीमन्त, और प्रलय की अनल-विषा से भी लहरदार होती है । मुझे तुम्हारे सिंहासन नहीं चाहिए । मुझ पुत्र पुरगुप्त के विकास अर्द्ध मन और शोकन में ही शीघ्र शरीर का अवलम्ब वाञ्छनीय नहीं । कहे देती हूँ, हठ जाओ, नहीं तो तुम्हारी समस्त कुर्मरणाओं को एक पूँके में उड़ा दूँगी !

अनन्त०—क्या ? इतना साहस ! तुम्हें क्यों ! नू जानता है कि किसके साथ बात कर रही है ? मैं बड़ी हूँ—जो अश्वमेध-यज्ञकम कुमारगुप्त से, बालों को मुगन्धित करने के लिए गन्धकूष जलवाती थी—विषकी एक ठीली कोर से गुप्त-साम्राज्य टाँबाडोल हो रहा है, उस तुम एक सामान्य स्त्री ! आ-आ, हा अपने भयार्क को, मुझ ऐसे काँट-पतंगों की आश्रयकता नहीं । परन्तु स्मरण रखना, मैं हूँ अनन्तदेवी ! तेरी कूटनीति के कंडकित कानन की दावाग्नि—तर गन्धकूष का बर्र ! मैं बह आग लगाऊँगी, जो प्रलय के समुद्र से भी न बुझे !

(जाती है)

पिञ्जया—मैं ज़र्री की न रही! इधर मयानक पिशाचा की लोला मूमि, उधर गम्भीर समुद्र! दुर्बल रम्पौ-हृदय थोड़ी ज़ान में गरम और शीतल हाथ करते ही ठंडा। क्रोध से अपने आत्मीय बनो पर किय उमल बेना! जिनकी घना की धारककठा है— जिन्हें स्नेह के पुरस्कार की बाँछ है उनकी मूल पर कडोर तिरस्कार और जा पराये हैं, उनके साथ दीवती हुई न्दानुमति। यह मन का किय यह बदलने वाले हृदय की झुंझा है। ओह! जब हम अनमान लोगों की मूल और दुस्ती पर घमा या न्दानुमति प्रकट करते हैं तो मूल जाते हैं कि यहाँ मेघ स्वार्थ नहीं है। समा और उदारता बरी लयी है, जहाँ की भी बलि हो। अपना अनुक बन और हृदय दूसरो के हाथ में देकर यहाँ—जहाँ! कियर—(उम्मतमाय से प्रस्थान करना चाहती है)

(पदच्युत नायक पर प्रवेश)

नायक—शान्त हो।

पिञ्जया—कौन!

नायक—एक सैनिक।

पिञ्जया—दूर हो, मुझे सैनिकों से पूरा है।

नायक—क्यों मुन्दरी!

पिञ्जया—कूर! कबल करने भटे मान के लिए, बनापटी पड़प्पन के लिए, अपना हम्म हिलखाने के लिए, एक अनिर्वचिन हृदय का लोरो से लल विहम्बना है। किसकी रसा, किस दी-की मरापता के लिए गुगरार कास है!

नायक—मात्रान्य की रसा के लिए।

पिञ्जया—कूट। तुम लपकी जंगली हिस प्यु होकर जम्म लेना था। गह! थोड़-थोड़ी ठीकरो के लिए अमूम्य मानय जीवन का नाय करनेपान मयानक मेडिए।

नायक—(स्वगत) पागल हो गई क्या ?

विजया—स्नेहमयी देवनेना का शंका से तिरस्कार किया, मिलाते हुए स्वर्ग को फर्क से दुष्ट समझ, देव-मुक्त्य स्कन्दगुप्त में विद्रोह किया, किस लिए ? फयला अपना रूप, धन, यौवन दूसर को दान करके उन्हें नीचा दिखाने के लिए ? स्वाभ्यपूर्ण मनुष्यों की प्रतारणा में पड़कर लो दिया—इस लोक का सुख, उस लोक की शान्ति ! आह !

नायक—शान्त हो !

विजया—शान्ति कहाँ ! धनो को दंड देने के लिए मैं स्वयं उनसे अलग हुई ; उन्हें दिखाने के लिए—'मैं भी कुछ हूँ ! धपनी मूल थी उसे अभिमान से उनसे सिर हीय के रूप में मद रक्खा था । उन पर भ्रूण अभिवोग लगाकर, नीच-हृदय की निम्न उच्छे विन कर रही थी । अब उम्का फल मिला ।

नायक—रमयी ! नूला हुआ लौट आता है, सोया हुआ मिला जाता है, परन्तु जो जान-बूझकर भूतमुलहया तोड़ने के अभिमान से उससे घुसता है, वह उमी पकड़भूह में स्वयं मरता है, दूसरों को भी मारता है । शान्ति का—कम्पाण का—माग उन्मुक्त है । श्रेष्ठ को छोड़ दो, स्वार्थ को विस्मृत करो, सब तुम्हारा है ।

विजया—(मिसकनी हुई) मैं अनाथ निःश्रय हूँ ।

नायक—(बनाबटी रूप उतारता है) मैं शयनाग हूँ । मैं सम्राट् का अनुचर हूँ । मगप की परिष्कृत देख कर अपने विषय अन्त में- को लौट रहा हूँ ।

विजया—क्या अन्तर्वेद के विषयविनि शयनाग ?

दाय्य०—हाँ, परन्तु देश पर एक भीयस्य आतंक है । मयक की निशाच लीला सफल होना चाहती है । विजया ! बलो, देश के प्रत्येक बन्ध, बड़े और सुबक को उतकी भण्ड में लगाना

होगा, कस्यम्ब का मार्ग प्रशस्त करना होगा। आओ, यदि हम राजसिंहासन न प्राप्त कर सकें, तो हमें अचीर न होना चाहिए। हम देश की प्रत्येक गलीको मगड़ू देकर ही इतना स्वच्छ कर दें कि उस पर चलनेवाले राजमार्ग का मुक्त पारें।

विजया—(कुछ सोचकर) तुमने सब कहा। सब को कस्यम्ब के शुभागमन के लिए कटिबद्ध होना चाहिए। श्लो—

[दोनों का प्रस्थान]

[भटार्क का शिविर]

(नर्तकी गाती है)

माक-निधि में लहरियों उठती तमी

मूल कर भी अब स्मरण होता कमी ।

मचुर सुरली पूँक दी तुमने मला,

नींद मुझका था बली भी बस अभी ।

सब रंगों में फिर रही है बिबलियों,

नील नीरद ! क्या न बरसोग कभी ।

एक झोंक और मलमानिल अहा !

सूद्र कलिका है खिली चाती, अभी ।

कौन भर-भर कर बियेगा इस तरह,

यह समस्या हल न हागी क्या कमी !

(कमला और देवकी का प्रवेश)

देवकी—भटार्क ! कहाँ है मेरा सर्वस्व ! बता दे—मरे आनन्द का

उत्सव, मेरी आशा का उहार, कहाँ है !

भटार्क—कौन !

कमला—हठम ! नहीं बघटा है, यह पही देवी है—जिन्होंने

उर नारकीय अपराध की घुमा किया था—जिन्होंने तुम्हसे

पिनौन कीड़े धरे भी मरने से बचाया था, बही, बही, बेव प्रतिमा

महादेवी देवकी ।

भटार्क—(पहचानकर) कौन ! मरी माँ !

कमला—तू कइ चकता है । परन्तु मुझे तुम्हको पुत्र कहने में

संशय होता है लज्ज से गड़ी जा रही है ! जिस जननी की संतान -

त्रितय आभाग्य पुत्र—येसा बेराप्रोही हो, उसको क्या मुँह दिखाना

चाहिए ! आह भटार्क !

भटार्क—पजमाता और मेरी माता ।

देवकी—बता मयांक ! वह आर्य्यवर्त का एक यज्ञी है ! देव का बिना दाम का सेवक, वह जन-साधारण के हृदय का स्वामी यही है ! उससे शत्रुता करते हुए तुम्हें

कमला—बोल दे मयांक !

मटार्क—क्या कहूँ, कुमा की सुगन्ध लहरों से पूछो, हिमवान की गण्ड जानेवाली बधों से पूछो कि वह यज्ञी है ! मैं नहीं

देवकी—आह ! क्या मेरा स्कन्द ! ! मेरा प्राण ! ! !

(गिरती है मृत्यु !)

कमला—(उसे सम्हालती हुई) बस पिशाच ! एक बार अपनी बिजबन पर प्रसन्नता से स्निहयिता ल । नीच ! पुण्य-प्रक्षिप्ता को, ब्रिजों की गरिमा को, मूल में लोटता हुआ देस कर, एक बार हृदय खोल कर हँस ले । हा देवी !

मटार्क—क्या ! (मयमीत हाकट दस्तता है)

कमला—इत यंत्रणा और प्रयत्न से मरे हुए संसार की पिशाच मूमि को झेड़ कर अक्षय लोक को गई, और तू जीता पड़ा—सुली परो में आग लगाने, हाहाकार मचाने और देव को अनाथ बनाकर उसकी दुःखता करने के लिए—मरक के कीड़े ! तू जीता रहा ! !

मटार्क—मा, अधिक न बहो । साम्राज्य के विरुद्ध कोई अपराध करने का मरा उद्योग नहीं था ; कमल पुरगुप्त को शिरासन पर बिठान की प्रतिज्ञा में प्रति हाकर मैंने यह किया । स्कन्दगुप्त न खड़ी, पुरगुप्त बनाई होगा ।

कमला—अरे मूर्ख ! अपनी गुण्य बुद्धि की कल्प मान कर, उसक हर्ष में मूल कर, मनुष्य कितना बड़ा अपराध कर सकता है ! पामर ! तू मन्नाटों का नियमक बन गया ! मैंने मूल की, अतिका पद में ही सेवा गला घोट कर क्यों न मार डाला ! आत्महत्या के अतिरिक्त अब और कोई प्रावधिपत्त नहीं ।

भटाक—माँ, क्या करो। आज से मैंने शम्भू-स्वाग किया। मैं इस मंथन में अलग हूँ, अब अन्ना बुद्धि से तुम्हें कष्ट न पहुँचाऊँगा।
(तलवार डाल देता है)

कमला—तूने बिलम्ब किया भटाक ! महादबी एक दिन बिलक नाम पर गुप्त-मात्राशय नतमन्त्रक होता था, आज उतकी अन्वेषि-क्रिया के लिए काद उपाय नहीं। हा तुदेव !

भटाक—(ताली बजाता है, मंत्रिक आते हैं) महादबी की अन्वेषि क्रिया पात्रसम्मान में होनी चाहिए। बलो, शीघ्रता करो !

(दबकी के शब्द का एक ऊँच स्थान पर दानों मिल कर रखने हैं)

कमला—भटाक ! इस पुण्यचरण के मन्त्र में, उम्भर है, वेध पात्र लूट जाय।

[भटाक और कमला पर तीव्र आलाप]

[कश्मीर]

(भायाधिकरण में मातृगुप्त)

(एक स्त्री और दयहनायक)

मातृगुप्त—नन्दीधाम के दयहनायक देवनन्द ! यह क्या है !

देवनन्द—कुमारामात्य की जब हो ! बहुत परिश्रम करने पर भी मैं इस रमणी के अपहृत धन का पता न लगा सका । इसमें मेरा अपराध अधिक नहीं है ।

मातृगुप्त—फिर किसका है ! तुम गुप्त-शास्राज्य का बिधान मूल्य गये ! प्रजा की रक्षा के लिए 'कर' लिया जाता है । यदि तुम उसकी रक्षा न कर सक, तो वह अर्थ दुम्हारी मूर्ति से कट कर इस रमणी को मिलेगा ।

देवनन्द—परन्तु वह इतना अधिक है कि मां भीषण-भर की मूर्ति से भी उसका मरना असम्भव है ।

मातृगुप्त—तब राज-कोप उसे देगा और तुम उसका पल भीगोगे ।

देवनन्द—परन्तु मैं पहले ही निवेदन कर चुका हूँ । इसमें मेरा अपराध अधिक नहीं है । यह भीनगर की सब से अधिक समृद्धिवालिनी बेरब है । यह अपने अन्तर्गत लोगों का परिचय भी नहीं बताती, फिर मैं कैसे पता लगाऊँ ! गुप्त-धर भी चक गये ।

मातृगुप्त—हाँ इसका नाम मैं मूल गये ।

देवनन्द—मालिनी ।

मातृगुप्त—क्या ! मालिनी ! (कुछ सोचता हुआ) अर्ध, आधो, कोयप्यय को भेज दो ।

(देवनन्द का प्रस्थान)

मातृगुप्त—मालिनी ! अर्धगुण्डन दयाओ, फिर कौंचा करो, मैं अपना धर्म निवारण करना चाहता हूँ ।

(अशुभन हटा कर मासिनी मातृगुप्त की ओर देखती है,
मातृगुप्त चकित होकर उसका देखा है ।)

मातृगुप्त—तुम कौन हो—मासिनी ! छठना ! मही-नही,
अम है !

मासिनी—नहीं मातृगुप्त, मैं ही हूँ ! अशुभन केवल इसी-
लिए था कि मैं तुम्हें मुक्त नहीं दिल्का सकती थी । मातृगुप्त !
मैं यही हूँ ।

मातृगुप्त—तुम ? नहीं मरी मासिनी ! मेरे हृदय की आराध्य
देवता—वेरवा ! असम्भव । परन्तु नहीं यही है मुक्त । यद्यपि विकास ने
उम पर अपनी मलिन छाया डाल दी है—उस पर अपने अमिश्राप की
छाप लगा दी है, पर तुम यही हो । हा दुर्देव !

मासिनी—दुर्देव ।

मातृगुप्त—मैं आज तक तुम्हें पूजता था । तुम्हारी पवित्र स्मृति
को कंगाल की निधि की भाँति छिपाये रहा । मूर्ख मैं आज
मासिनी ! मेरे शून्य माग्यावास के मन्दिर का द्वार खोल कर तुम्हीं
ने उनीची उपाय का लक्ष्य भौंका था, और मेरे भिन्नारी संसार पर स्वयं
बिन्दर किया था । तुम्हीं मासिनी ! तुमने सोने के लिए नन्दन का
अम्लान कुसुम खेच डाला । आओ मासिनी ! राज-क्रोध से अपना
धन ल लो !

मासिनी—(मातृगुप्त के पैरों पर गिरती हुई) एक बार समा
कर हो मातृगुप्त !

मातृगुप्त—मैं इतना हठ नहीं हूँ मासिनी कि तुम्हें इस अपराध
के कारण भूल जाऊँ । पर वह स्मृति दूतरे प्रहार की होगी । उठने
जाला न होगी । धुँआ उठगा और तुम्हारी मूर्ति धुँपली होकर तामन
आवेगी ! आओ !

(मासिनी का प्रस्थान, पर का प्रवेश)

सुन्दरगुप्त

शर—कुमारामात्म की अप हो ।

मातृगुप्त—क्या समाचार है । सन्नाह का पता लगा ।

शर—नहीं । पञ्चनद हृष्टों के अधिकार में है, और वे काश्मीर पर भी आक्रमण किया चाहते हैं ।

मातृगुप्त—आओ ।

(शर का प्रस्थान)

मातृगुप्त—ओ सब क्या ! मेरी कल्पना के सुन्दर स्वप्नों का प्रमाथ हो रहा है । नाबती हुए नीहार-कणिकाओं पर तर्पणी किरणों के माले । ओह ! लोभा का कि देवता जागेंगे, एक बार आर्म्हवर्त में गीरक का सृष्ट स्वमङ्गल और पुरय-कर्मों से समस्त पाप-वंक का काँगे, हिमालय से निकली हुई सप्तविधु तथा गंगा यमुना की घाटियाँ, किसी आम्प लक्ष्यस्व के स्वप्न और पवित्र आम्न-सी, मूलों आति के निर्वाचित प्राणियों को अन्नदान देकर सन्नुष्ट करेगी ; और आम्पवाति अपने इड सबल हाथों में शस्त्र-मन्त्र करके पुरय का पुरस्कार और पाप का तिरस्कार करती हुई, अञ्जल हिमाञ्जल की भाँति सिर ऊँचा किए, बिन्दु को लक्ष्यारण्य के लिए सावधान करती रहेगी, आलस्य-सिन्धु में शयन-क-शापी मुमुक्षिनाथ जागेंगे, सिन्धु में हस्तयल होयी प्लावर से स्नयत्रिवाँ आम्पावर्त की बला-भूमि पर निष्कण्वर होगी । उद्बोधन के गीत गाये, हरय के उद्गार मुनाथ, परन्तु बाता फट्ट कर भी न पलटा ! प्रवीर उदार हरय स्वद्वगुप्त, वहाँ है ! सब, काश्मीर ! तुम्हें विना ।

[प्रस्थान]

[नगर प्रान्त में पत्र]

(धातुमेन और प्रख्यातकीति)

प्रख्यात०—प्रिय बप्प ! आज तुम्हें आये तीन दिन हुए,
क्या तिरुल का राज्य तुम्हें भारत-सम्यटन के जमान तुम्हें प्रतीत
होता है ?

धातुमेन—भारत सम्य विन्द का है, और मन्मूष बमुचरा
इसके प्रम-परा में आबद्ध है। धनादि-धन्य म मान की, मानवता
की ब्याति यह किष्कीर्ण कर रहा है। बमुचरा का हृदय—भारत—किष्
मूल को प्यारा नहीं है। तुम देखत नहीं कि विन्ध का सब म
ऊँचा मृग इसका तिरुहान, और सब से गम्भीर तथा विशाल
सुन्दर इतक चरणा का नीच है ! एक-एक सुन्दर इत्य प्रकृति
ने धनन इस पर में विभित कर रक्ता है। भारत के कस्वाय्य
के लिए मया तपस्व अरिठ है। किन्तु देखता हूँ, वीर्य
मनता और संघ भी साम्राज्य के दिग्बद्ध है। महाबाधि-विहार
के संघ-महास्पर्धिर में निबाय-लाम किया है, उस पद के तपपुच्छ
भारत-नर में चकल प्रख्यातकीति है। तुमस संघ की नखिनता बमुन
बुद्ध पुल बायगी।

प्रख्यात०—पत्रमिष ! मुक्त घना कीबिए। मैं धन-लाम करन के
तिरु भित्तु हुआ है, महास्पर्धिर बनने के लिए नहीं।

धातुमेन—मिष ! मैं मातृगुप्त से मिलना चाहता हूँ।

प्रख्यात०—बह ता बिरल होकर पून रहा है !

धातुमेन—तुमको मेरे साथ काश्मीर चलना होगा।

प्रख्यात०—पर अभी तो कुछ दिन टहरोगे ?

धातुमेन—जहाँ तक सम्भव हा, सीप चला।

(एक भित्त का प्रवेश)

मिष—आचार्य ! मगन धनर्ष !

प्रख्यात०—क्या है ! कुछ कहो मी !

मिस्तु—बिहार के समीप जो चतुष्पथ का क्षेत्र है, वहाँ कुछ प्रासय बति किमा पाहते हैं। इपर मिस्तु और बौद्ध जनता उचेबित है।

घातु०—बसो, हम लोग मी बसै, उन उचेबित लोगो के शान्त करने का प्रयत्न करें।

[सब जाते हैं]

[बिहार के सनीय अनुपपन्न । एक बार माझण लोग पल्लि का उपकरण लिय दूसरी ओर निष् और बाँद जनता उचोचित ।
दंडनामक का प्रवेश]

वृद्धनायक—नागरिकरत्न । यह समय अन्तर्दिशोह का नहीं है । देतत नही हो कि साम्राज्य बिना कण्यभार का पोत होकर दग्गमग्य रहा है, और गुम लोग छुद्र बाता के लिए परस्पर मगाइत हो ।

प्राज्ञण—इन्ही बीदा ने गुप्त शुभु का काम किया है । कई बार क विताहित हूय इन्ही लोगो की व्यापता से पुन आय है । इन गुप्त लुछो को हृत्प्रता का उचित दरद मिलना चाहिए ।

भमण—ठीक है । गंगा, यमुना और सरयू क तट पर गाइ हुए मून कदमियो की छुती में टुकी हुई कीलो की तरह अप मी सटकते

हम लोग निस्तराय प, क्या करत ? विषमी विदेयी की शरण में भी यदि प्राय बच जायें और बर्म की रक्षा हो । राष्ट्र का समाज मनुष्य के द्वारा बनते हैं—उन्ही क मुष क लिए । किस राष्ट्र और समाज से हमारी मुल-यान्ति में बाबा पड़ती हो, उसका हमें विरस्कार करना ही होगा । इन संस्थाओ का उद्वेग है—मानसो की मत्ता । यदि वे हमी स अक्षेप सेवा लना पाहें और हमारे कप्यो को न हटावें, तो हमें उसकी सीमा क बाहर जाना ही पडगा ।

प्राज्ञण—राजसो को इतनी हीन अवस्था में बहुत दिना तक विस्वनिपन्ता नही दस सकत । जो जाति विरव क प्रस्तिष्क का शासन करन का अधिकार लिये उत्तरप हुई है, वह कमी सरसो क नीच न देटगी । काज नही बलि होगी—हमारे पमावरण में स्वयं विधाता भी बापा नने दाल सकत ।

भमण—निर्दिह प्राणियस क शय में अनन्ता पम है, राजस्य '

तुम्हारी इसी दिव्य-नीति और अद्वैतमूलक आत्मवाद का खण्डन तथ्यगत ने किया था। उस समय तुम्हारा ज्ञान-गौरव कहाँ था? क्यों नतमस्तक होकर समग्र अम्बुद्वीप में उस ज्ञान एवमूमि के प्रधान मन्त्र के समक्ष द्वार स्वीकार की? तुम हमारे धर्म पर अन्याचार किया चाहते हो, यह नहीं हो सकेगा। इन पशुप्रा के बदला हमारी बलि होगी। रक्त-निर्गम दुर्दान्त ब्राह्मणदेव! तुम्हारी पिशाचा हम अपने खिरे से शान्त करेंगे।

धामुसेन—(प्रथम कतक) अद्वैतमूलक आत्मवाद का खण्डन करके गौतम ने विश्वात्मवाद को मान्य नहीं किया। यदि ऐसा करते तो इतनी कुरखी की क्या आवश्यकता थी? उपनिषद् के नेति-निति से ही गौतम का अनात्मवाद पृष्ठ है। यह प्राचीन महर्षियों का अधिन सिद्धान्त, मध्यमा-मतिपण के नाम से, संसार में प्रचारित हुआ; ध्वनिकरूप में आत्मा के सत्य कुछ नहीं है। वह एक मुधार था, उसका लिए रक्तपात क्यों?

दशरथमायक—बसो, यदि य इठी लोग कुछ तुम्हारे समझने में मान आये, अन्यथा यहाँ बलि न होने वृण।

ब्राह्मण—क्यों न होने दोगे? अधार्मिक शासक! क्यों न होने दोगे? आर्य गुण कुचक्रों से गुण्यताभाव सिद्ध है। कोई धर्मिय राजा नहीं जो ब्राह्मण के धर्म की रक्षा कर सके—जो धर्मधारण के लिए अपने राजकुमारों को वरिष्णों की रक्षा में निपुण कर। आर्य धर्मदेव! तुम कहाँ हो?

धामुसेन—मन्त्रसि-पु-अरय नृशंस हूँ। स पणकान्त है। ज्ञान नीत और धर्म है और उसका धर्म अक्षय्य अक्षय्य में पैरो में कुषला आ रहा है। अधिन राजा, धर्म का पालन कराने वाला राजा, धर्म पर क्यों नहीं रह गया? आपन इस बिचार है! क्यों ब्राह्मण दुर्गों के लिए अन्य लोगों की उपजीविका

धीन रहे हैं। नये एक युग के लोग दूसरों की अंधकारी हथियाँ फेंक करने लगे हैं। लाम ने तुम्हारे धर्म का व्यवसाय बचा दिया। दक्षिणाओं की योग्यता से—स्वर्ग, पुत्र, धन, यश, विजय और मोक्ष तुम बनने लगे। कामना से अर्धी जनता के बिलासी-समुदाय के लोग के लिए तुम्हारा धर्म व्यापार्य हो गया है। जिस धर्म के व्यापार्य के लिए पुष्कल स्वल्प चाहिए, वह धर्म जन साधारण की सम्पत्ति नहीं। धन ही धर्म के धाँपे और स्वल्प के कर्तृदार जास्य पंलाय गय। और व्यवसाय की उपाया से वह दग्ध हो रहा है। जिन धनवानों के लिए तुमने धर्म की सुरक्षित रक्ता, उइने ममम्य कि धन धन से खरीदा जा सकता है, इतलिए धनोपाजन मुम्य हुआ और धन गीण। जो पारस्य देश की मूम्बवान् मदिरा रात को पी सकता है, वह धार्मिक बन रहन के लिए प्रमात न एक गो निष्कय भी कर सकता है। धर्म की पशाने के लिए तुम्हें राजशक्ति की आवश्यकता हुई। धर्म इतना निपल है कि वह पारस्य बल के द्वारा सुरक्षित होगा।

प्राज्ञण—तुम कौन हो! मूल उपदेशक! इत जाओ। तुम नास्तिक प्रक्षुष्य पीर! तुमको अपिकार क्या है कि हमारे धर्म की ध्याम्मा करो!

धामुमन—प्राज्ञण क्यो महान है! इतलिए कि व त्याग और समा की मूर्ति है। इती के बल पर वह-पद सम्राट् उनक आभयो के निवट निरत्न होकर जात य, और य तरसही श्रुत और अमृत हाँस म जीवन-निर्वा करत हुए सार्य प्रात धमियाला में भगवान् म प्राधना करत य—

सयें अपि सुरितः सन्तु सयें सन्तु निरामयः।

सयें मद्रालि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखमाप्नुयान्॥

—आप लोग उही शास्त्रों की सन्तान हैं, जिन्होंने अनेक यज्ञों को एक बार ही बन्द कर दिया था। उनका धर्म समयानुकूल प्रत्येक परिवर्तन को स्वीकार करता है, क्योंकि मानव बुद्धि ज्ञान धर्म—जो बंदों के द्वारा हमें मिला है—बस्तार करेगी, उसके विघ्नस के साथ चलेगी, और यही धर्म की भव्यता है।

प्रख्यातकीर्ति—धर्म के अन्वयको ! मनुष्य अपूर्ण है। इसलिए सत्य का विकास जो ठठक द्वारा होता है, अपूर्ण होता है। यही विकास का रहस्य है। यदि ऐसा न हा तो ज्ञान की वृद्धि असम्भव हो जाय। प्रत्येक प्रकारके जो कुछ-न-कुछ प्राचीन अतन्त्र-वर्गणयज्ञों का आश्रय इसी से ग्रहण करना पड़ता है। नबी बम, समय और देश की स्थिति के अनुसार, विद्वत् हो रहे हैं और हमें। हम लोगों को इठबर्मी से उन आगन्तुक धर्मिक पूणता प्राप्त करनेवाले ज्ञानों से मूढ़ न करना चाहिए। हम लोग एक ही मूल धर्म की दो शाखाएँ हैं। आओ, हम दोनों अपने उदार विचार के फूलों से दुःख मय मानवों का इठोर पथ कोमल करें।

पहुन स होम—ठीक तो है, ठीक तो है, हम लोग धर्म धारक में ही अगड़ते हैं और आततायियों को देख कर घर में गुन जात हैं। हुनों के कामन तलवारें लेकर उही तरह क्यों नहीं चढ़ जात ?

बुंइनायक—यही तो बात है नागरिक !

प्रख्यातकीर्ति—मैं इत विदार का आश्रय हूँ, और मेरी लक्ष्यति धार्मिक अगड़ों में बौद्धों को माननी चाहिए। मैं जानता हूँ कि नमस्साम् ने प्राणिमात्र को बराबर बनाया है, और जीव रक्षा इनीन्द्रिय बम है। किन्तु अब तुम लोग स्वयं इतक लिए गुन

करोगे, तो इत्या की संकषा बढगी ही। अथ यदि तुममें कोई सखा पार्मिक हो तो वह आगे आवे, और ब्राह्मणों से पूछ कि आप मेरी बलि देकर इतने जीवों को छोड़ सकते हैं। क्योंकि इन पशुओं से मनुष्यों का मूल्य ब्राह्मणों की दृष्टि में भी विशुप होगा। आइये, कौन आता है, किसे बोधित्व होने की इच्छा है।

(बाँदों में सँझह नहीं हिलता)

प्रख्यात०—(हँसकर) यही आपका धर्मोन्माद था! एक मुद्द करनेवाली मनोवृत्ति की प्रस्था से उत्पन्न होकर अपम करना और बर्माचार्य की दुन्दुभी ब्रह्मण्य—यही आपकी कबला की सीमा है! आइये, धर लौट आइए। (ब्राह्मण से) आओ एक निषामु पार्मिक! लो, मरा उपहार देकर अपने देवता को सन्तुष्ट करो! (सिर झुका लेता है)

ब्राह्मण—(तलवार फेंककर) धन्य हो महाभयस्य। मैं नये मानता था कि तुम्हारे ऐम पार्मिक भी इसी संघ में हैं। मैं बलि नहीं करूँगा।

[जनता न जयजयकार; सब धरि-धरि जाते ह]

[पय में विजया और मातृगुप्त]

विजया - नहीं कबिबर ! ऐसा नहीं ।

मातृगुप्त—कौन, विजया ?

विजया—आरबर्ष और शोक का समय नहीं है । मुझपि-
शिरोमणि ! ग्य बुके मिलान-संगीत, गा बुक कीमल कल्पनाओं क
कपील गान, रो बुके वेम क पबड़े ? एक बार बह उद्बोधन-गीत गा
दा कि मारताय अयनी नरबला पर बिस्वाठ करके अमार मारत की सेवा
न लिए समझ हो जायें ।

मातृगुप्त—कौन, विजया ?

विजया—हाँ मातृगुप्त ! एक प्राण बचान के लिए बिलने
दुम्हारे हाव में काम्मीर-मन्त्र दे िया था, आज तुम उसी समझ
को सोचते हो । एक नहीं, पमे लूस स्कन्दगुप्त, ऐसे लूसों
वह-दुस्य उदार पुषक, इस अन्मभूमि पर उलर्न हो जायें । मुना हो
पह संगीत—बिलस पहाड़ हिल जाय और समुद्र कपि कर रह जाय,
भोगजाइयां छेपर मुचकुन्द की मोह निद्रा स भारतवासी अग पैं ।
म-दुम गली-गली कोने कोने पर्यटन करेंगे, पैर पैंगे, लोगों को
बगबेनी !

मातृगुप्त—यार पाले ! तुम भन्व हो । आज मे में यही करूँगा ।

(लकर) बह लो—बचनालित आ रहा है !

(अकपालित का प्रपण)

शम०—लक्ष्मी की लीला, कमल क पत्तों पर मल-विन्दु,
आकाश के मध-समारोह—अरे इनस भी छुड़ नीहार-अग्निबध्नों
की प्रभात-लीला । मनुष्य की अदृष्ट-लिवि बेनी ही है, बेनी अमि
ग्याओं मे हृत्त मय में विजयी की बर्णमाला—एक अन्व में मगलित,
दुन अय में विनीन होमे पाली ! अविष्यत् का अनुसर दुष्क मनुष्य
अवत अतीत का ग्यामी है ।

मातृगुप्त—पुत्रु बन्धनालित !

धर्म०—कौन, मातृगुप्त !

मौम०—(सहसा प्रवेश करके) कहाँ हैं मछ नार, नेर हृदय का रक्त, मुद्राओं का तंत्र, बसुन्धरपद्म का शृङ्गार, बीरता का बरखीन बसु, मातृगुप्त-मुकुट आभ्य पद्मबर्मा ?

(प्रत्यातच्छांति और क्षमणा का प्रवेश)

प्रख्यात०—उब पागल, छूट गये-स, अनाप और आभय-दीन—यही तो हैं ! आर्य्यराष्ट्र के पुत्रले हुए अक्षुर मम साम्राज्य-पोत क हूँ हुए पगरे और पतवार एम बीर हृदय ! ऐसे उदार ! !

मातृगुप्त—तुम कौन हो ?

प्रख्यात०—सम्पत्त. तुम्ही मातृगुप्त हो !

मातृगुप्त—(रोका स दरता हुआ) क्यों अंदेरी कुत्तो क ममान मँपने हुए यहाँ भी ! परन्तु तुम

प्रख्यात०—अंदेरे मत करो मातृगुप्त ! शैयब-शहरर कुमार पातुन्न की आग म मैं तुम लोगों को खोज रहा हूँ । यह लो प्रचार-पत्र ।

मातृगुप्त—(पढ़ कर) धन्य शिंशु क मुबरात्र भन्ज । कर देना, मैं आमातुश्वर बर्नूंगा, और कनिष्क-वीर्य क स्त्रीन मँड होगी ।

प्रख्यात०—बस्ताय हो ! (जाता है)

पित्रया—कहाँ बलें हम लोग ?

मातृगुप्त—उसी ब्रह्म में !

[सब लोग जाते हैं]

[कमला की फुटी]

(विचित्र अवस्था में स्कन्दगुप्त का प्रवेश)

स्कन्द०—बौद्धों का निर्वाण, योगियों की समाधि और पागलों की-सी सम्पूर्ण विस्मृति मुझे एक साथ चाहिए । बतना पड़ती है कि वृषभा है, और उत्तर में जैसे कोई कहता है कि वृषिकीना है—उसी शिक्षावाड़ी बटपत्रवायी बालक के हाथों का लिखीना है । तेरा मुकुट भमजीवी की टोकरी से भी तुम्हें है !

कदला-सहचर—क्या बिस पर हुमा होती है, उठी ओ दुःख का अमोघ दान बेसे हो ! नाथ ! मुझे दुःखों से मय नहीं, संसार के नफ़ेक पूर्ण संकितों की लज्जा नहीं । वैभव की बितनी कड़ियाँ दृष्टी हैं, उठना ही मनुष्य बन्धनों से छूटता है, और तुम्हारी ओर अपसर होता है । परन्तु यह ठीकरा इसी सिर पर फूटने को था ! आर्ष्य-साम्राज्य का नाथ इन्हीं आँखों को देखना था ! इन्द्र काँप उठता है, देवामिमान गरजम लागता है । मेरा स्वप्न न हो, मुझ अचिन्त की आश्चर्यकता नहीं । यह नीति और वदाचारों का महान आभव-वृद्ध—गुप्त साम्राज्य—दण-भरा रहे, और कोई भी इसका उपपुच्छ रक्षक हो । ओह ! जाने दो, गया, सब कुछ गया ! मन बरलाने को कोई बस्तु न रही । कर्मन्व—विस्मृत, मविष्य—अम्पकार-गुर्ण, लक्ष्यहीन शीङ्ग और अनन्त सागर का संशरण है !

क्या दा वेगु मनमाहम ! क्या दा ।

हमारे सुत जीवन का जगा दा ।

विमल स्वार्तभ्य का पस मंत्र पूँका ।

हमें सप मीति पन्धन स छुड़ा दा ।

सहारा उन अँगुलियों का मिले हों ।

रसीले राग में मन का मिला दा ।

तुम्हीं सत हो इसी की चतना हा ।

इस आनन्दमय जीवन बना दा ।

(प्रार्थना में मुकता है ; उमठ भाष से शर्बनाग का प्रवेश)

शर्य०—कीन लिया, गोद से छीन लिया, सोने के लोमठ मर लालो को शूल पर क मोठ की तरह सेकने लगे । बिन पर बिरब-भर का मोठार लुटाने का मैं प्रसुत था, उन्ही गुन्की के लालो को राघवो ने—हृषो ने—शुटरो ने—लूट लिया । किन्ने आहो की मुना ?—मगवान् ने ? नरी, उस थिर ने नहीं मुना । देखते हुए भी न बेला । आठ व कमी एक पुकार पर, दौड़ते व कमी आधी आह पर, अबतार लते व कमी आम्पो की बुदरा म मुली होकर, अब नरी । देश क हरे आनन चिठा बन रहे हैं । भभकती हुई नाय की पर्वत ब्वाला दिग्दाह कर रही है । अपने ग्वालानुक्तिओ की बर्ष की मोटी प्दार से दिनाये हिमालय मौन है, विपल कर क्यों नहीं लमुद्र से का मिलता । अरे जड़, मूक, कपिर, प्रकृति क टोल ।

(उमठ भाष से प्रस्थान)

रुक्मन्०—कीन है ! यह शबनाग है क्या ? क्या अन्तर्बेद की हृषो मे पागवान्त हुआ ! अर अर्प्यबत क दुर्देव विकृती क अत्रो म क्या मविष्णु लिख रहा है ? मगवान् ! यह अर्धान्मठ शप । आर्प्यलाभाय की इत्या का केला मयानक इत्य है । किना पीनरठ है । मिरो की विदात्म्यती मे मृगल-हृन्द सड़ी लोप नोच रह है ।

(पगली रामा का प्रवेश , रहन्द को देखकर)

रामा—सुरत है तू मी । क्या लम्प, मेरी लम्पी हरिणी । तर दांशो म हूँगी । बेल लो—(हाथ बढ़ाती है)

रुक्मन्०—कीन ' रामा ।

रामा— (आश्चर्य से) मैं रामा हूँ ! हाँ, जिसकी संतान को हृषीकेश ने पीस डाला ! (उदर कर) मेरी ! मेरी संतान ! इन अमागों की-सी वे नहीं थीं । वे तो तलवार की घातीक भार पर पैर कैला कर सोना जानती थीं । पचकती हुई उबाला में हँसते हुए कूट पड़ती थीं । तुम (दसती हुई) लुदरे सी नहीं, उहँ, कायर भी नहीं, अकर्मण्य बातों में भुलानेवाले तुम कौन हो ! देखा या एक दिन ! बही तो है जिसने अग्नी प्रबंध हुंकार से दस्युओं को कँपा दिया था, ठोकर मार कर सोई हुई अकर्मण्य जनता को जगा दिया था, जिसका नाम स रोपें छोड़े हो जाते थे, मुझाएँ पड़कने लगती थीं । वही स्कन्द—रमखियो का रक्षक, बालकों का विश्वास, बृद्धों का धाम्य और आर्यावर्त की दृष्टिदायक । नहीं, भ्रम हुआ ! तुम निर्यम, निस्तेज, उठी क मखिन चित्र से तुम कौन हो !

(प्रथम)

स्कन्द०—(घीटकर) आह ! मैं वही स्कन्द हूँ—अनेका, निस्त्रय !

(कमला कुटी साक्षका बाहर निकलती है)

कमला—कौन अज्ञान है तुम अनेके हो ! समग्र संसार तुम्हारा लय है । स्वानुमति को जापठ करो । यदि मखियन् म डरते हो कि तुम्हारा पठन ही समीप है, तो तुम उस अनिवाय सोठ स लाड़ जाओ । तुम्हारा प्रबंध और विश्वासपूर्ण पनाघात से पिप्पक सनान कोई शैल उठ खड़ा हाग्र, जो उस विप्र-सोत को लौट देगा ! राम और बृष्ण क समान क्या तुम भी अघतार नहीं हो सकते ! समस्त लो, जा अपने बलों को ईश्वर का कर्म समस्त कर करा है, वही ईश्वर का अघतार है । उठो स्कन्द ! आसुरी वृत्तियों का नाश करो, सोन बालों को जग्यओ, और रोनेवालों को हँसाओ । आर्यावर्त तुम्हारा लय होगा और उस आर्य-वर्षाका क नीच समग्र विरव होग्य । बीर !

स्कंद०—कीन तुम ' नमक की बननी ।

(नन्ध सु स्कन्दन—बधाभा । घग्ग्)

स्कंद०—कीन ' देखेना कामा गग् ! नरा गग्ग् घग्
दे ? (जाता है)

(दयसेना का पीड़ा करने हुए हुए का दये)

दयसेना—मीम ! मार ! मुन् इत बन्याचारी म बचाभा, वही गग्

हण—कीन तुम्हे पबता है ? (पच्छना चाहता है, दयसेना
हुनी निमल का आलहत्या किया चाहती है । पग्ग्घ मग्ग्मा पग्
ओर स आकर पग्ग्हाय म हण का गदम, दूग्ग् हाय म गग्ग्ना
घ हुनी पच्छता है ।)

हण—घमा हो !

पग्ग्घ—घातचारी ! वा, तुन् इत दग्ग् दग्ग् है । का वही,
हम लोग बल मग्ग्घी की उनापि पर ।

कमला—वही, वही—कनिष्क क स्त्र क कग् !

दयसेना—वही, कीन कमला वही ?

कमला—वही कामाग्ग्नी ।

दयसेना—घग्ग्घा, जाती है, फिर निग्ग्गी ।

(पग्ग्घ क साम दयसेना का प्रस्वान)

(स्कन्दगुन का प्रश्न)

स्कंद०—कीन नगी निष्ठा । वही म वर दुधार वग्ग्घी ' मग्
दय म्माकुल हो उगा है । मग्ग्घ नित्र वग्ग्घम की परोर । वग्ग्घ !

कमला—वर मुग्ग्घित है, पग्ग्घा नगी । कनिष्क क मग्
क पान वग्ग्घी माता की उनापि है, वही पर वग्ग्घा गी गग्ग् है ।

स्कंद०—वही ' मेरी बननी ' वही न वही ! हा !

(मुग्ग्घित होता है, कमला उस वृत्त में उग्र म जाता है ।)

[पग्ग्घ]

पंचम अंक

[पंच में मुद्गल]

मुद्गल—यथा स एक श्रीर ऊपर से नीचे, कमी हुई स दानव, कमी स्नेह-संबन्धित मानव, कमी बीषा की मन्त्रकार, कमी दीनता का ठिरस्कार । (तिर पर हाथ रत्न कर बैठ जाता है)

भाग्यवद ! तेरी बलिहारी ! अपमाला यह सुन कर कि बन्धुवर्मा श्रीर गति को प्राप्त हुए, सती हो गई, श्रीर बेचसेना को लेकर बड़ा पशुदत्त देवकुलिक का-मा महादेवी की समाधि पर जीवन व्यतीत कर पड़ा है । अकल्पित, श्रीर भीमवर्मा और मातृ गुप्त छात्राधिपति को सोच रहे हैं । अब विद्विष्ट ! सुना है कि बिजया का मन कुछ फिटा है, वह भी इसी लोभों के साथ मिली है, परन्तु उस पर विश्वास करने को मन नहीं करता । अनन्तदेवी ने पुत्रगुप्त के साथ सधि कर ली है, मगध में महादेवी और परम महारथ बनने का अभिनय हो पड़ा है । सम्राट की उपाधि है 'भ्रमरशासित्य', परन्तु प्रकथ के स्थान पर अधिपति है । आदित्य में गमी नहीं । शिक्षासन क सिद्ध होने के हैं । समस्त भारत दूषों के चरखों में लोट रहा है, श्रीर भयार्क मूल की बुद्धि के समान अपने कर्मों पर पड़नालाप कर पड़ा है । (सामने दलकर) यह बिजया था रही है ! तो इट चली ।

(उठकर जाना चाहता है)

विजया का मुद्गल ! जैसे पद्मानता ही न हो । अब है, समय बरतन हर लोभों की आदि भी बदल जाती है ।

मुद्गल—तुम क्यों हो जी ! पद्मान-पद्मान की दाहका

दृष्टी नहीं लगती और तिस पर मैं हूँ ज्योतिषी । जहाँ देखो वहीं यह प्रश्न होता है , मुझ उन बातों के सुनने में भी संकोच होता है—मुझसे कठे हुए हैं । किसी कूदरे पर उनका स्नेह है ! वह सुन्दरी कब मिलेगी ? मिलेगी या नहीं ?—इस तरह क लक्ष्मीसे श्रेष्ठ और रसीली लोकरियों में यही प्रश्न गुरुजी से पाठ में पड़ा है । अभिचार के लिए, मुहूर्त पूछ जाते हैं ।

यिज्ञया—क्या मुद्गल ! मुझ पहचान लेने का भी तुम्हें अश्वास नहीं है !

मुद्गल—अश्वास हो या नहीं, मुझ आश्वास्यकृता नहीं ।

यिज्ञया—क्या आश्वास्यकृता न होने से मनुष्य, मनुष्य से बात न करें ! सब है, आश्वास्यकृता ही संसार क व्यवहारों की दहाल है ! परन्तु मनुष्यता भी कोई बस्तु है मुद्गल !

मुद्गल—उसका नाम न लो । भिन्न हृदय में अखंड वेग है, तीव्र तृप्या से जो पूष्य है, जो कृतप्रता और कृताओ का माहार है, जो अपने मुर—अपनी तृप्ति क लिए संसार में सब कुछ करने को प्रस्तुत है, उसे मनुष्यता से क्या सम्बन्ध है !

यिज्ञया—न लो, परन्तु इतना तो बता सकोगे, सम्राट् स्कन्दगुप्त से जहाँ भेंट होगी ? क्योंकि यह पता पता है कि क जीवित है ।

मुद्गल—क्या तुम महाराज से भेंट करोगी, किस मुँह से ! अचान्ती में एक दिन यह बात सब जानते थे कि यिज्ञया महारैबी होगी ।

यिज्ञया—उसी एक दिन के बदले मुद्गल आज मैं फिर कुछ कहना चाहती हूँ । यही एक दिन का अतीत आज तक का भविष्य क्षिणय था ।

मुद्गल—तुम्हारा साहस तो कम नहीं है ।

यिज्ञया—मुद्गल ! बता दोगे ?

पंचम अंक

[पथ में मुद्गल]

मुद्गल—राजा से रंक और ऊपर से नीचे, कमी हुई च दानव, कमी स्नेह-संबन्धित मानव, कमी बीषा की धनकर, कमी बीनवा का तिरस्कार । (सिंघ पर हाथ रख कर बैठ जाता है)

मगधबन्धु ! ठेरी बकिहारी ! अममाका यह सुन कर कि बन्धुवर्मा और पति को प्राप्त हुए, कर्षा हो गई, और देवसेन्य को लेकर बड़ा पखदच देवकुलिक का-सा महादेवी की समाधि पर जीवन व्यतीत कर रहा है । पन्द्रपक्षित, और भीमवर्मा और मातृ गुप्त राज्याधिपत्य को स्तब्ध रहे हैं । तब विद्विप्त ! तुना है कि विजया का मन कुक्षु छिप है, बर भी इन्हीं लोगों के साथ मिली है, परन्तु अब पर विश्वास करम को मन नहीं करता । अनन्तदेवी ने पुराण्य क साथ सधि कर ली है, मगध में महादेवी और परम महारक बनने का अभिनव हो रहा है । उम्राट् की उपाधि है 'ब्रह्माद्यादिस्य, परन्तु प्रकाश क स्थान पर अधिष्ठ है । आरिज में गमी नहीं । सिंहासन क सिंहा सोने के हैं । समस्त भारत हृषी के बरहो में लोट रहा है, और मयकं मूल की हृषिक के तनान करने कमी पर परबाल्यप कर रहा है । (सायने देलकर) पर विजया था रही है ! तो दृट बर्ने ।

(उठकर जाना चाहता ह)

विजया और मुद्गल ! जैसे परधानता ही न हो । तब है, मगध बालने पर लोगों की आँसु भी बदल जाती है ।

मुद्गल—तुम कौन हो जी ! बभान-परधान की देहध्या

कम्पनी नहीं लगती और तिस पर मैं हूँ ज्योतिषी । वहाँ देखो वही यह मन्त्र होता है, मुझे उन बातों के सुनने में भी संकोच होता है—मुझमें कठे हुए हैं ! किसी दूसरे पर उनका स्नेह है ! वह सुन्दरी कम मिलेगी ? मिलेगी या नहीं ?—इस देश के कृषीसे छैल और रसीली छोकरियों में वही मन्त्र गुन्नी से पाठ में पढ़ा है । अभिचार के लिए, मुझमें पूर्ण आते हैं ।

विजया—क्या मुद्गल ! मुझ परचान लेने का भी तुम्हें आश्चर्य नहीं है !

मुद्गल—आश्चर्य हो या नहीं, मुझे आश्चर्यकता नहीं ।

विजया—क्या आश्चर्यकता न होने से मनुष्य, मनुष्य से पाठ न करें ! सब है, आश्चर्यकता ही संसार का व्यवहार की दृष्टाण्ट है ! परन्तु मनुष्यता भी कोई बलु है मुद्गल !

मुद्गल—उसका नाम न लो । जिस हृदय में अलंकार बेग है, ठीक कृष्णा से जो बुरा है, जो कृतमता और कृतार्थों का साधारण है, जो अपने मूल—अपनी सृष्टि के लिए संसार में सब कुछ करने को प्रस्तुत है, उसे मनुष्यता से क्या सम्बन्ध है !

विजया—न सही, परन्तु इसका तो बता सकोगी, सभाट् रङ्गगुण्ट से कहाँ भेंट होगी ! क्योंकि यह पता पला है कि व जीवित है ।

मुद्गल—क्या तुम मराराज से भेंट करोगी, जिस मुँह से ! अबन्ती में एक दिन यह बात सब जानते थे कि विजया महादेवी होगी !

विजया—उसी एक दिन के बदले मुद्गल आज मैं फिर कुछ करना चाहती हूँ । वही एक दिन का अतीत आज तक का मणिप्य विषय था ।

मुद्गल—तुम्हारा साहस तो कम नहीं है ।

विजया—मुद्गल ! बता दोने !

मुद्गल—तुम विश्वास के योग्य नहीं। अशुभ शत्रु और तुम क्या करोगी। बेबसेना के साथ उहाँ पर्याप्त रहते हैं, आज कमलादेवी के कुटीर से सम्राट् वहीं अपनी जननी की समाधि पर जाने वाले हैं, उही कनिष्क-रूप के पास। अशुभ, मैं जाता हूँ। देखो विजया! मैंने बता दिया, पर साक्षान्त।

(जाता है)

विजया—उसने ठीक कहा। मुझ स्वयं अपने पर विश्वास नहीं। स्वार्थ में ठोकर लगते ही मैं परमार्थ की ओर दौड़ पड़ी, परन्तु क्या यह सच्चा परिवर्तन है? क्या मैं अपने को मूल कर देश-सेवा कर सकूँगी? क्या बेबसेना ओह! फिर मेरे सामने वही समस्या। आज तो स्कन्दगुप्त सम्राट् नहीं है, प्रतिहिंसे, सो जा। क्या क्या? नहीं, बेबसेना ने एक बार मूल्य लेकर खरीदा था, परन्तु विजया भी एक बार नहीं करेगी। बच-संका तो होगी ही, यदि मैं अपनी भी कामना पूरी कर सकती। मेरा रत्नपट्ट अभी बचा है, उसे सेना संकलन करने के लिए सम्राट् को दूँगी, और एक बार बनूँगी महादेवी। क्या भरी होग्य! अशुभ होगा। अदृष्ट में इसीलिए उस रक्षित रत्नपट्ट को बचाया है। उससे एक साम्राज्य तो सकती हूँ। तो आज वही करूँगी, और इसमें दोनों होने—स्वार्थ और परमार्थ।

(प्रस्थान)

(मटार्क का प्रवेश)

मटार्क—अपने कुकर्मों का फल बताने में कहया, परन्तु बरि लाम में मधुर होता है। ऐसा बीर, ऐसा उपयुक्त और ऐस्य परोपकारी शब्द। परन्तु गम्भ—मरी ही मूल से सब गया। आज भी वे शब्द लामन का जात है, जो उस बृहत् अमात्य ने कर दे—'मटार्क, साक्षान्त। त्रिम कालमुबंगी राष्ट्रनीति की

लेकर मुम खेला रहे हो, प्राण देकर भी उतकी रक्षा करना।' हाय ! न हम उसे यश में कर सके और न तो उसके अलग हो सके। मेरी उच्च धार्मिका, धीरता का दम्भ, पाखंड की सीमा तक पहुँच गया। अनन्तदेवी—एक छुद्र नारी—उसके कुचक में, आशा के प्रतीक में, मैंने तब बिगाड़ दिया। मुना है कि कहीं यही स्कन्दगुप्त भी है, वल्लू उस महल का दर्शन तो कर लूँ।

[कनिष्क स्तूप के पास महादेवी की समाधि]
(अकला पर्यटन टहलते हुए)

पर्यटक—धुली रोटियों बना कर रखनी पड़ती है। जिन्हें कुत्तों को बेठे हुए संकोच होता था, उन्हीं कुत्तित अलों का उद्यम। अद्य निधि के समान उन पर प्रकाश देता है। मैं रोऊंगा नहीं, परन्तु यह रचा बना केवल जीवन का भोग बन करने के लिए है। नहीं, पर्य! रोना मत। एक बंद भी अस्सु अँकों में न दिखाई पड़। तुम जीते रहो, तुम्हारा उद्देश्य सफल होगा। मगवान् बधि होगे, तो कहेंगे कि मेरी छवि में एक सया इदन था। संतोष कर उच्छ्रिते हुए हृदय! अन्तोप कर, त रोटियों के लिए नहीं बीठा है, न उसकी मूठ दिखाता है, अितने तुम्हें उत्पन्न किया है। परन्तु जिस काम को कभी नहीं किया, उसे करते नहीं बनता, स्वांग मरते नहीं बनता, देश के बहुत-से दुर्देश-मत्त बीर इदनों की सया के लिए करना पड़ेगा। मैं क्षमि है, मेरा यह पाप ही आपदर्म होगा, सादी एदना मगवान्!

(एक नागरिक का प्रवेश)

पर्य०—बाबा! कुछ दे दो।

नागरिक—और बर दुगदारी कहाँ गई बर (सन्न कतता है)

पर्य०—मेरी बेटी स्नान करने गई। बाबा! कुछ दे दो।

नागरिक—मुझ उतना गान बड़ा प्याय लगता है, अगर पर गती, तो तुम्हें कुछ अवरम मिल जाता। अष्ट, फिर आऊँगा। (जाता है)

पर्य०—(दौत शीघ्र कर)—नीच, गुराभा, बिलास का नार कीय कीड़ा! बालों को संभार कर अश्वि कपड़े परनकर, अय भी परमद म बना दुष्मा निरलता है! कुलरपुष्पों का अपमान

धमन बल्लभ हुए भी अकड़ कर पल रहा है, अब तक बिलास और नीब बाठना नहीं गई। जिस दर के नपमुबक एस हो, उसे अबाय दूसरो क अधिहार में जाना चाहिए। दर पर यह विपत्ति, फिर भी यह निराशा पत्र।

दयमेना—(प्रवेश करके) क्या है बाबा। क्यों चिंत रह हो ? जाने दो, जिल्ले नहीं दिया—उसन अब्ना, कुछ गुमारा तो नहीं ल गया।

पण०—अपना ! देवमना ! अब पर स्वय है मूलो का और धन पर स्वय है देवमाफियो का। प्रकृति न ठाँहें हमारे लिए—हम मूलो क लिए—रुभ छोड़ा है। बर पाती है, उसे लीयन में इतनी कुटिलता ! बिलास क लिए उन क पास पुष्कल धन है, और दरिद्रों क लिए नहीं ? अन्याय का समथन करते हुए तुम्हें मूल न जाना चाहिए कि

दयमना—बाबा ! जमा करो। जाने दो, कोर तो देगा।

पण०—हमारे ऊपर सैकड़ों अनाय बीरों क बालको का मार है। बेटी ! बे मुद्र में मरना जानत है, परम्पु मूष म तड़पत हुए ठाँहें देख कर आँसो में रक्त गिर पड़ता है।

दयमना—बाबा ! महादबी की उमाधि स्वच्छ करता हुं था रही है। कई दिन से नीम नहीं आया, मातृगुण भी नहीं, सब कहाँ है ?

पण०—आयोग बटी ! तुम बेगो, मैं अभी जाता हूँ।

(प्रस्थान)

दयमना—भगोत समा की अन्तिम लहरार और आभन्द्रीन तान, पूरान की एक क्षीण गन्ध गला, बुपभ हुं मूलो का म्लान सौरभ, और उअप के पीछे का अपसा, इन लरो की प्रतिहृति मरा खुद नारी-जीवन ! मर त्रिप गान ! अब क्यों गाऊँ और क्या मुनाऊँ ?

इस बार बार के गाने हुए गीतों में क्या आकर्षण है—क्या बला है जो खींचता है ! कबला सुनने की ही नहीं, प्रत्युत जिसके साथ अनन्त काल तक कंठ मिला रखने की इच्छा जग जाती है ।

(गाती है)

शुन्य गगन में खोजता जैसे चन्द्र निराश,
राज्य में रमणीय यह किसका मधुर प्रकाश ।

हृदय ! तू खोजता किसको छिपा है खैन-सा तुम्हमें,
मञ्जलता हे बता क्या है छिपा तुम्हसे म कुछ मुझमें ।
रस-निधि में जीवम रहा, मिटी न फिर मी प्यास,
मुँह खोले मुक्त्रमयी सीपी स्वाती आस ।

हृदय ! तू हे बना जलनिधि, लहरियाँ खेळती तुम्हमें
मिला अब खैन-सा नजरल जो पहले न था तुम्हमें !

(प्रस्थान)

(पेश बदले हुए स्कन्दगुप्त का प्रवेश)

स्कंद०—जननी ! तुम्हारी पवित्र स्मृति को प्रख्याम ।

(समाधि के समीप घुटने टेक कर फूल चढ़ाता है)

माँ ! अन्तिम बार आशीर्वाद नही मिला, इसीसे यह कष्ट, यह अपमान । माँ तुम्हारी गोद में पलकर भी तुम्हारी सेवा न कर सका—
यह अपराध क्षमा करो ।

(देखतेना का प्रवेश)

देखतेना—(पहचानती हुई) कौन ! अरे ! सम्राट की खब हो !

स्कन्दगुप्त—देखतेना !

देखतेना—हाँ राजाधिराज ! धन्य भाग्य, आज दर्शन हुए ।

स्कन्दगुप्त—देखतेना ! बड़ी-बड़ी क्षमनाएँ थी ।

देखतेना—समाद !

स्कन्दगुप्त—क्या तुमने यहाँ कोई कुटी बना ली है !

देवसेना—हाँ, यही गाकर मीन मांगती हूँ, और आर्य्य पर्यदत्त के साथ छठी हुई महादेवी की समाधि परिष्कृत करती हूँ।

स्कन्द०—मालवेश-कुमारी देवसेना ! तुम और यह कर्म ! मम्य जो चाहे कर ले ! कमी हमने भी तुम्हें अपने नाम का बनाया था।

देवसेना ! यह सब मेरा प्रायश्चित्त है। आज मैं बभ्रुवर्मा की आत्मा को क्या उत्तर दूँगी ? जिसने निम्नार्य्य भाव से सब कुछ मेरे परियों में अर्पित कर दिया था, उससे कैसे उश्च्य होऊँगा ? मैं यह सब दलता हूँ, और जीता हूँ।

दयसेना—मैं अपने लिए ही नहीं मांगती देव ! आर्य्य पर्यदत्त ने साम्राज्य के बिस्तरे हुए सब रत्न एकत्र किये हैं, वे सब निरबलम्ब हैं। किसी के पास दूरी हुई तलवार ही पत्थी है, तो किसी के जीर्ण वस्त्र-सूट। उन सब की सेवा इसी आश्रम में होती है।

स्कन्द०—बृह पर्यदत्त, तात पर्यदत्त ! तुम्हारी यह दया ! जिसके लोहे से आज बरसती थी, वह जंगल की लकड़ियाँ बटोर कर आज मुलुगता है ! देवसेना ! अब इतना कोई काम नहीं, वलो महादेवी की समाधि के सामने प्रतिभूत हो, हम तुम अब अलग न होंगे। साम्राज्य तो नहीं है, मैं बना हूँ ; वह धरना मम्य तुम्हें अर्पित करके उश्च्य होऊँगा, और एकान पास करूँगा।

दयसेना—तो न होगा लम्बा ! मैं जाती हूँ। मालेश न जो देश के लिए उसका किया है, उतना प्रतिदान लेकर मृत आत्मा का धरमान न करूँगी। लम्बा ! देखा, यही पर लती बयमाला की भी छोटी-सी समाधि है, उसका गौरव की भी रक्षा होनी चाहिए।

स्कन्द०—देवसेना ! बभ्रुवर्मा की भी तो यही इच्छा थी ।

देवसेना—परन्तु क्या हो सम्राट् ! उस समय आप बिजया का स्वप्न देखते थे , अब प्रतिदान लेकर मैं उस महत्त्व को कर्त्तव्य न करूँगी । मैं आजीवन दासी बनी रहूँगी , परन्तु आपके प्राप्य में भाग न लूँगी ।

स्कन्द०—देवसेना ! एकांत में, किसी कानन के कोने में, तुम्हें देखता हुआ, जीवन व्यतीत करूँगा । सम्राज्य की इच्छा नहीं—एक बार कह दो ।

देवसेना—तब तो और भी नहीं ! मालव का महत्त्व तो रहेगा ही, परन्तु उसका उद्देश्य भी लज्जित होना चाहिए । आप को अकर्मण्य बनाने के लिए देवसेना जीवित न रहेगी ! सम्राट्, क्या हो । इत हृदय में आह ! करना ही पड़ा, सुन्दरगुप्त को छोड़ कर न तो कोई दूसरा आया और न वह जायगा । अविमानी भक्त के समान निष्काम होकर मुझ उसी की उपासना करने दीजिए ; उन्ने कामना के भँवर में पँस कर कर्त्तव्य न कीजिए । नाथ ! मैं आपकी ही हूँ मैंने अपने को द दिया है, अब उससे बदला कुछ लिया नहीं पावती ।

(पैरों पर गिरती है)

स्कन्द०—(आँसू पोंछता हुआ) उठो देवसेना ! तुम्हारी विजय हुई । आज से मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं कुमार जीवन ही व्यतीत करूँगा । मेरी जननी की समाधि इसमें लाठी है ।

देवसेना—है, है, यह क्या किया ?

स्कन्द०—कस्यस्य का भीष्मण्ड ! यदि सम्राज्य का उद्धार कर सका, तो उस पुरगुप्त के लिए निर्जटक छोड़ जा सकूँगा ।

देवसेना—(निश्वास लेकर) देवराज ! तुम्हारी जय हो । जाऊँ आपसे पण्डित का लिना लाऊँ । (प्रस्थान)

(विजया का प्रवेश)

विजया—इतना रक्तपात और इतनी ममता, इतना मोह—
जैसे सरस्वती के शोणित जल में इन्दीवर का विक्रम । इसी
कारण अब भी मैं मरती हूँ । नर स्कन्द ! मरे प्राणाचार ।

स्कन्द०—(घूम कर)—यह कौन इन्द्रबाल मंत्र ! अरे विजया !

विजया—हाँ, मैं ही हूँ ।

स्कन्द०—तुम कैसे ?

विजया—तुम्हारे लिए मरे अन्तस्तल की आशा जीवित है !

स्कन्द०—नहीं विजया ! उस खेल का खेलने की इच्छा नहीं,
यदि दूसरी बात हो तो कहो । उन बातों को रहने दो ।

विजया—नहीं, मुझ कहने दो । (सिसकती हुई) मैं अब
भी

स्कन्द०—चुन रही विजया ! वृं मेरी आराधना की—तपस्या
की भूमि है, इसे प्रकटना से कमुपित न करो । तुम में यदि स्वर्ग
भी मिले, तो मैं उसमें दूर ही रहना चाहता हूँ ।

विजया—मेरा पात अभी दो रत्न-यह दिये हैं, जिनमें मुझ
एकत्र करके तुम स्वर्ग ही उन हृणों को परास्त कर सकते हो ।

स्कन्द०—परन्तु, साम्राज्य के लिए मैं अपने को नहीं बेच
सकता । विजया ! खली जाओ, इत नित्यमत्र प्रसीमन की आश
व्यवस्था नहीं । यह प्रसंग यही ठहरे ।

विजया—मैंने दशबाहियों का समूह करने का संकल्प किया
है, और मयंक का संकल्प छोड़ दिया है । तुम्हारी सहाय्य के उर
मुक्त बनने का उद्योग कर रही हूँ । मैं मालव और वीरायु को
तुम्हारे लिए स्वतंत्र कर दूँगी, आपसीमी हृण-दस्तुओं से उस
तुझ मुझ नेत्र काम है । बचल तुम स्वीकार कर लो ।

स्कन्द०—विजया ! तुमने मुझ इतना लोभी समझ लिया

यह कमी एकदली का मत करेगा—कमी विद्याची शक्ति-पाठ पढेगी ?

यिज्ञया—(सिर नीचा करके) अपराध हुआ ।

मटाक—फिर भी किसके साथ ? जिसके ऊपर अत्याचार करते हैं भी ललित है । जिससे क्षमा-माधना करने में आ रहा था । नीच स्त्री !

यिज्ञया—घोर अपमान, तो यह

(दुरी निकाल कर आत्म-हत्या करती है)

स्कन्द०—मटाक ! इसके शपथ का संस्कार करो ।

मटाक—देव ! मेरी भी लीला समाप्त है ।

(दुरी निकालकर अपने का मारना चाहता है, स्कन्द हाथ पकड़ लेता है)

स्कन्द०—गुप्त घोर हो, इस समय देश का बोरो की आवश्यकता है । तुम्हारा यह भावविचलन नहीं । स्वामि में प्राण लेकर जननी जन्म भूमि का उपकार करो । मटाक ! यदि कोई साथी न मिले, तो साम्राज्य के लिए नहीं—जन्मभूमि के उत्थार के लिए मैं अनेका युद्ध करूँगा और तुम्हारी प्रतिष्ठा पूरी होगी, पुराणुक्त को विश्वास देकर मैं बानप्रस्थ-आश्रम प्रवृत्त करूँगा । आत्म-हत्या के लिए जो अस्त्र तुममें प्रेषा किया है, उस शस्त्र के लिए मुरझित रहको ।

मटाक—(स्कन्द के सामने घुटने टककर) 'भी स्कन्दगुप्त पित्रमादित्य की जन्म हो !' जो आज्ञा होगी, यही करूँगा ।

स्कन्द०—पत्ने इत शपथ का प्रकल्प होना चाहिए । (प्रत्याग)

मटाक—(स्वगत) इस वृथित शपथ का अग्नि-संस्कार करना ठीक नहीं, लाओ इसे यही गड़ हूँ !

(भूमि स्पर्शते समय एक मयामक शब्द के साथ रत्न गड़ का प्रकट होना और मटाक का प्रसन्न होकर पुष्करना । स्कन्दगुप्त का आकर रत्न-गड़ दत्तमा)

स्कन्द०—भयकं ! यह दुन्दारा है ।

भद्रार्क—हाँ सन्नाह ! यह हमारा है, इसीलिए डेर का है । भाव से मैं सेना-संरक्षण में लगूँगा ।

स्कन्द०—वह दूर पर बड़ी भीड़ हो रही है स्वर के पास ।

भद्रार्क—नागरिकों का उन्मत्त है । (रत्नपूह बन्द करके) बलिया, देखो ।

सुन्दरगुप्त

(स्तूप का एक भाग—नागरिकों का आना । उहीं में वेष्ट बदले हुए मासुयुष, भीमधर्मा चक्रपासित, शर्वनाग, कमला, रामा इत्यादि । दूसरी ओर से बुद्ध पर्यटन का हाथ पकड़े हुए देवसेना का प्रवेश)

१—नागरिक—अरे यह छोकरी का गर्भ, इससे कुछ सुन्य बाव ।

२—नागरिक—हाँ रे छोकरी ! कुछ ग्य तो ।

पर्य०—मील दो बाबा ! देष्ट के बन्ध मूले हैं, नीगे हैं, अक्षय्य हैं ; कुछ दो बाबा !

३—अरे गाने भी रे बूडे !

पर्य०—हाय रे अमागे देष्ट ।

(देवसेना गाती है)

देष्ट की दुदरा निहारोगे,
 बूबते ओ कमी उबारोगे ।
 हारते ही रहे, न है कुछ अण,
 दौष पर आपओ न हारोगे ।
 कुछ करोगे कि बस सदा रोक
 दीन हो देष्ट को पुकारोगे ।
 सो रहे तम न माग्य सोता है
 आप बिगड़ी तुम्हीं सेवारोग ।
 दीन जीवन बिता रहे अण तक
 क्या हुए जा रहे, विचारोगे ।

पर्य०—नहीं बेटी, निर्लज्ज कमी विचार नहीं करेंगे ।
 चक्रपासित और भीमधर्मा—आर्य्य पर्यटन की अण ।

पर्य०—मुझे अण नहीं चाहिए—मील चाहिए । जो दे सफल हो
 करने प्राय, सो अन्ममूषि के लिए उत्सर्ग कर सक्ता हो जीवन, बेठे
 भीर चाहिए, कोई देगा मील में ?

स्वप्न०—(भीड़ से निकल कर) मैं प्रस्तुत हूँ थाय ।

भट्टाक—भी स्वप्नगुप्त विद्वन्प्रदित्य की खय हो ।

(नागरिकों में से बहुत-से युवक निकल पड़ने हैं)

सुष—हम हैं, हम आरक्षी सेवा के लिए प्रस्तुत हैं ।

स्वप्न०—आर्य्य पर्यदत्त !

पद्म०—आओ बन्धु ! छत्राद् । (आभिगन करता है)

[उत्साह से जनता पूजा के फूल बरसाती है । चक्रवालित, मनिषर्मा, पाठगुप्त, शर्पनाग, कमला, रामा, सब का प्रकट होना—अपनाद]

[महाबोधि-विहार]

(अनन्त देवी, पुरगुप्त, प्रत्यातकीर्ति, हृद्य-सेनापति)

अनन्त०—इतना उच्च महाभय देते ।

हृद्य-सेनापति—मुझे उच्च आदि, आदि कोई दे ।

प्रत्यात०—सेनापति ! मुझसे सुनो, समस्त उच्चपथ का बीज संघ जो तुम्हारे उत्कोच के प्रलोभन में मूल-भाषा या, वह भय न होगा ।

हृद्य-सेना०—उसी बीज अनन्ता से जो सहायता हृद्य-सैनिकों को मिलती थी, बन्द हो गई, और उल्टा ठिठकर ।

प्रत्यात०—वह भय था । बीजों को विरवात था कि हृद्य लोग छद्म का उपाय करने में तदायक होंगे, परन्तु ऐसे हिंसक लोगों को छद्म कोई आशय नहीं देगा । (पुरगुप्त की ओर देता हँस) यद्यपि संघ ऐसे अकर्मरूप पुष्क को आर्य्यसाम्राज्य के सिंहासन पर नहीं देता आरता, तो भी बीज धर्माचार करने, राजनीति में भाग न लेंगे ।

अनन्त०—भिद्रु ! क्या कर रहे हो ! समझ कर रहना ।

हृद्य-सेना०—गोप्यदि से समाचार मिली है, रुद्रगुप्त फिर भी उठा है, और सिन्धु के इस पार के हृद्य उठके पार में है, सम्भवतः शीघ्र ही अन्तिम बुद्ध होगा । तब तब के लिए संघ को प्रतिष्ठा भंग न करनी चाहिए ।

पुरगुप्त—क्या बुद्ध ! हम लोगों को कोई वृत्ती बात नहीं

अनन्त०—बुद्ध एही ।

पुरगुप्त—तब फिर एक पाव । (सेवक देता है)

प्रत्यात०—अन्त्यर्ष्य । विहार में मघयान ! निकलो वहाँ से ।

अनन्त०—भिद्रु ! समझ कर बोलो, नहीं तो मूर्च्छित मस्तक मृगि पर लोटते लगे ।

दृष्ट-सेना०—इसी की सब प्रशंसा है। इसका तो मैं अबतक ही बच करूँगा।

प्रव्यात०—अधिक और अनात्मभाव में किसका कौन बच करेगा मूर्ख !

दृष्ट-सेना०—पाकपट्ट ! मरने के लिए प्रस्तुत हो।

प्रव्यात०—छिटा के सुबराज की प्रेरणा से हम लोग इस क्षय पर अमर हुए हैं, वहाँ से नहीं लौट सकते हैं।

(दृष्ट-सेनापति मारना चाहता है)

कुमार धातुसेन—(सहसा प्रवेश करके) 'सम्राट् स्वन्द्युप्त की जय !'

(सैनिक सब को घन्टी कर लते हैं)

धातु०—कुम्भिकी ! अपने बल भोगने के लिए प्रस्तुत हो जाओ। भारत के भीतर की बची हुई अमर दृष्ट-सेना के बचिर से यह उड़ी की लड़ाई क्याका शान्त होगी।

अनन्त०—धातुसेन ! यह क्या, तुम हो !

धातु०—हाँ महादेवी ! एक दिन मैंने समझया था तब मेरी अचरहेला की मर्त्य ; यह उड़ी का परिणाम है। (सैनिकों से) सबको शीघ्र अज्ञान स्वप्नभार में ले चलो।

[सबका प्रस्थान]

[रत्नसूत्र]

(सम्राट् स्कन्दगुप्त, मटार्क, चक्रपातित, पर्यादच, मामृगुप्त,
भीमवर्मा इत्यादि सेना के साथ परिभ्रमण करते हैं ।)

॥ (गान) ॥

वीरो !

हिमालय के आँगन में उसे प्रथम फिरछो का दे उपहार ।
उपा में हूँस अमिनन्दन किवा और पहमामा हीरक हार ।
जगे हम, लगे जगाने विश्व लोक में फैला फिर आलोक ।
श्याम-तम-पुञ्ज हुआ तब मष्ट, अखिल संसृति हा उठी अशोक ।
विमल बाणी ने वीरा ली कमल-श्रीमल कर में समीत ।
सप्तस्वर सप्तसिन्धु में उठे सिद्धा तब मधुर साम-संगीत ।
बधा कर भीम रूप से स्रष्टि, नाव पर खेल प्रलय का शक्ति ।
अठल अतम लेकर निज हाथ बरुण पत्र में हम बड़ अमीत ।
सुना है दभीषि का बड़ त्याग हमारा जाती-पता विद्वत् ।
सिन्धु सा विस्तृत और अबाह एक निर्वासित का उत्साह ।
दे रही अभी दितार्क भगव भग्न रत्नाकर में बड़ राह ।
धर्म का से लेकर जा साम हुआ करती बलि, कर दी बंद ।
हमो न दिया शान्ति-संग्रह, सुखी होते दकर आमन्द ।
विजय केवल लाहे की नहीं, धर्म की रही परा पर भूम ।
मिष्टु हाकर रहते सम्राट् दया दितलाली पर-पर भूम ।
स्पर्श का दिया दया का दान भीम का मित्ती धर्म की इष्टि ।
मिता का स्पर्श-भूमि को रत्न शाल की सिद्धल को मी सुष्टि ।
किडी का हमने सीना नहीं, प्रस्रति का रहा पालना यही ।
हमारी जन्मभूमि थी यही, कही से हम आये थे नहीं ।
आत्मि को का उत्थान-मतन, औषिषो अही, प्रपंड समीर ।
राडे दत्ता भेला हूँसते, प्रलय में पले हुए हम वीर ।

चरित के पूत, मुखा में शक्ति, नम्रता रही सदा सम्यक् ।
 हृदय के गौरव में या गर्व, किमी का दम्ब न सके बिपक्व ।
 हमारे सख्य में या दान, अतिमि य सदा हमारे देव ।
 वचन में सत्य, हृदय में तेज, प्रतिज्ञा में रहती थी टण ।
 यही है रत्न, यही है देय यही साहस ही पैसा ज्ञान ।
 यही है शान्ति, यही है शक्ति, यही हम दिव्य आर्ष्य संतान ।
 जिये तो सदा उसी के लिए यही अमिमान रहे, यह रूप ।
 निष्ठापर कर दे हम समस्त, हमारा प्यारा भारतवर्ष ।
 सत्य—(समवेत स्वर से) जय ! राजाधिपति स्वन्वगुप्त की जय ! !

(हृद्य-सेना के साथ सिंगिल का आगमन)

सिंगिल—बच गया या भाग्य से, फिर छिह के मुल में घाना
 चारठा है । मौर्य परसु के पहारों से तुम्हें अन्ती मूल स्वल्प
 हो जायगी ।

स्कन्द०—यह बात करने का स्थल नहीं है ।

(घोर युद्ध, सिंगिल शायल होकर बन्दी होता है । सम्राट की
 बचामे में बृद्ध पर्यदत्त की मृत्यु, गल्द्वष्यक की छाया में यह लिटाया
 जाता है ।)

स्कन्द०—धर्म और आर्ष्य पश्यत ।

जय—भाग्य पर्यदत्त की जय ! आर्ष्य लक्ष्मण की जय ! !

(बन्दी-वेश में पुरगुप्त और अनन्तदधी क साथ धानुर्मेन का प्रवेश)

स्कन्द०—धरो लौतेली माता ! इस दिवस मे धाप मुखी होगी ।

अनन्त०—क्यों लजित करते हो स्कन्द ! तुम भी तो मरे
 पुत्र हो ।

स्कन्द०—घाह ! यही यदि होता मरी विमाता ! तो देय की
 इतनी दुर्दशा न होनी ।

अनन्त०—मुझ क्या करी सम्राट् !

[रसज्ञेय]

(सम्राट् स्कन्दगुप्त, मट्यर्क, चक्रपालित, पर्यादत्त, मातृगुप्त,
मीमवर्मा इत्यादि सेना के साथ परिभ्रमण करते हैं ।)

॥ (गान) ॥

बीरो !

हिमाश्रय के आँगन में उस प्रथम क्षिणों का दे उपहार ।
उपा ने हँस आसनन्दम किवा भीर पहनाया हीरक हार ।
जगे हम, लगे जगाने बिरव लोक में पैला फिर आलोक ।
ज्वाम-जम-मुञ्ज हुआ तब मष्ट, आलिल संसृति हो उठी अशोक ।
विमल बाणी ने बीणा स्त्री कमल-श्लेष कर में समीत ।
सप्तस्वर सप्तसिन्धु में उठे सिद्धा तब मधुर साम-संगीत ।
बधा कर पीय रूप से सष्टि, नाग पर श्लेष प्रलय कर शीत ।
अरुण ज्ञेय लकर निज हाथ वरुण पथ में हम बड़े अमीत ।
सुना है दधीचि का बह खाग हमारा जाती-वता विद्युत् ।
सिन्धु का विस्तृत और अवाह एक निर्वासित का उत्साह ।
दे रही अभी दिलाइ भग्न मन्म रत्नाकर में बह राह ।
धर्म का ले लेकर जा नाम हुआ करती बलि, कर दी बंद ।
हमने ने दिया शान्ति-सन्ध्या, सुली होते दक्ष भावन्द ।
विजय केवल लाहे करे नहीं, धर्म की रही परा पर धूम ।
मिच्छु हाकर रहते सम्राट् दया दिलावाते धर-धर धूम ।
धर्म का दिया दवा का दान पीय को मिली धर्म की इष्टि ।
मिला था शर्या-मूर्ध्नि का रस शान्ति की सिद्धल को भी सृष्टि ।
क्षिपी का हमने जाना नहीं, प्रत्यति का रक्षा पालना नहीं ।
हमारी अभ्यमूर्धि भी यही, कहीं से हम आय थे नहीं ।
जातिपों का उत्थान-मथन, अपिप्यो भूड़ी, प्रपट समीर ।
राडे दरा मेवा हँसते, प्रलय में पत्ते हुए हम बीर ।

परित के पूत, मुझा में शक्ति, नम्रता रही सदा सग्न्य ।
 हृदय के गौरव में भा गर्प, किसी को देख न सके विषय ।
 हमारे सञ्चय में भा दान, अतिथि ये सदा हमारे देश ।
 बचन में सत्य, हृदय में तेज, प्रतिज्ञा में रहती थी टेष ।
 वही है रक्ष, वही है देश वही साहस है, पैसा ज्ञान ।
 वही है शान्ति, वही है शक्ति, वही हम दिव्य आर्ष्य संतान ।
 ब्रिये तो सदा उसी के लिए वही अग्रिमान रहे, यह ह्य ।
 निदानर कर दें हम सबस्य, हमारा प्यारा मारुतवर्ष ।
 स्वयं—(समवेत स्वर से) जय ! राजाधिराज स्कन्दगुप्त की जय ॥

(हृण-सेना के साथ सिंगिल का आगमन)

सिंगिल—बच गया था माम्य से, फिर सिंह के मुख में आना
 चाहता है । मीनस्य पशु के प्रहारों से तुम्हें अरनी मूल स्वरण
 हो जायगी ।

स्कन्द०—यद् वात करने का स्पष्ट नहीं है ।

(घोर युद्ध, सिंगिल घायल होकर बन्दी होता है । सम्राट् को
 बचाने में वृद्ध पण्डित की मृत्यु ; गरुडपुत्र की ज्ञाया में वह सिटाया
 जाता है ।)

स्कन्द०—धर्म और आर्ष्य पण्डित !

स्वयं—आर्ष्य पण्डित की जय ! आर्ष्य साम्राज्य की जय ॥

(बन्दी-वेश में पुरगुप्त और अनन्तदर्शी क साथ धानुमैन का प्रवेश)

स्कन्द०—मेरी सौतेली माता ! इत दिव्य म आप सुखी होयी ।

अनन्त०—क्यों ललित करत हो स्कन्द ! तुन भी तो मेरे
 पुत्र हो ।

स्कन्द०—आह ! यही यदि होता मरी विनयता ! तो देश की
 इतनी दुर्दशा न होनी ।

अनन्त०—मुझ समा करो सम्राट् !

स्कींदगुप्त

स्कन्द०—माता का हृदय सदैव क्षम्य है। तुम जित प्रलोभन से इस बुद्धिम में प्रवृत्ति हुई हो, वही तो कैफ़री ने किया था। तुम्हारा इसमें दोष नहीं। जब तुमने आज मुझे पुत्र कहा, तो मैं भी तुम्हें माता ही समझूँगा। परन्तु कुमारगुप्त के इस अभितेज को तुमने अपने कुत्सित कर्मों की राख से ढँक दिया। पुरगुप्त !

पुरगुप्त—देव ! अपराध हुआ। (पीर पकड़ता है)

स्कन्द०—भटार्क ! मैंने तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी की। शो, आज इस स्व-भूमि में पुरगुप्त को बुद्धयुक्त बनाया है। देखना, भर बाद अन्तर्ममि की बुद्धि न हो। (रक्त का टीका पुरगुप्त को लगाता है)

भटार्क—देवमत ! अभी आपकी क्षमक्या में हम लोगों को बहुत ही विजय प्राप्त करनी है ; यह आप क्या करते हैं !

स्कन्द०—घर-अगर शरीर अब बहुत दिन नहीं चलेगा, इसी से मैंने माकी साम्राज्य-नीति की घोषणा कर दी है। इस दृष्ट को छोड़ दो, और कह दो कि तिन्यु के इस पार के पवित्र देव में कभी आने का शरत न करे।

मिशिम—आप्य तथात् ! आपकी आज्ञा शिरोधार्य है।

[जाता है]

[उद्यान का एक भाग]

देखसेना—इंद्र की कोमल कस्ना । सो जा । जीवन में
 जिसकी सम्भारना नहीं, जिसे द्वार पर आये हुए लौट दिया था,
 उसके लिए पुनः मरना क्या तेरे लिए कोई अप्सरी बात है ?
 आर्य जीवन के मापी तुम्ह, आशा और आकांक्षा—सब से मैं बिदा
 लेती हूँ ।

आह ! वेदमा मिली पिदाई ।
 मैंने भ्रम-वश जीवन समित ,
 मनुकरियों की भीत लुटाई ।
 झलझल ये सन्ध्या के धमकस्य ,
 आँसू-से गिरते ये प्रतिक्षण ।
 मेरी यात्रा पर लेती भी —
 मीरवता अनन्त भगड़ाई ।

अमित स्वप्न की मधुमाया में ,
 गहन-विपिन की तरह छाया में ,
 पबिक उनीदी श्रुति में किम्बुन—
 यह विहाग की ताम उठाई ।
 लगी सतृष्ण दीठ भी सब की ,
 रही पचाये फिरती कब की
 मेरी आशा आह ! यावली
 तू न सा दी सकल कमाई ।

चढ़कर मरे जीवन-रत्न पर ,
 प्रलय बस रहा अपने पय पर ।
 मैंने निश्च दुमल पद-मल पर ,
 उससे हारी-होड़ लगाई ।

स्वर्गपुत्र०—माता का हृदय सदैव धुम्ब है। तुम अति प्रलोभन से इस दुःकर्म में प्रवृत्ति हुई हो, वही तो कैकेयी ने किया था। तुम्हारा इसमें दोष नहीं। जब तुमने धाम मुक्त पुत्र बना, तो मैं भी तुम्हें माता ही समझूँगा। परन्तु कुमारपुत्र के इस अभिप्रेत की तुमने अपने कुत्सित कर्मों की वार से टूट दिया। पुरगुप्त।

पुरगुप्त—देव ! अपराध हुआ। (पैर फड़कता है)

स्वर्गपुत्र०—भटार्क ! मैंने तुम्हारी मतिव्या पूरी की। हाँ, धाम इस लक्ष्मी में पुरगुप्त को सुवराज बनाता है। वेदना, संर बाद अन्तर्भूमि की दुर्दशा न हो। (रत्न का टीका पुरगुप्त को लगाता है)

भटार्क—देवव्रत ! अभी आपकी कृपण्यता में हम लोगों को बहुत-सी विषय प्राप्त करनी है, यह आप क्या कहते हैं ?

स्वर्गपुत्र०—घट-ज्वर शरीर अब बहुत दिन नहीं चलेंगे, इसी से मैंने अभी लक्ष्मी-नीति की घोषणा कर दी है। इस हृदय को छोड़ दो, और यह हो कि तिनके इस वार के पवित्र देश में कमी जाने का कारण न करे।

स्वर्गपुत्र—आप्य ठपार ! आपका आज्ञा शिरोधार्य है।

[जाता है]

[उद्यान का एक भाग]

द्वैतसेना—इसकी कोमल कल्पना ! छोटा ! जीवन में
 बसकी सम्मानना नहीं, जिसे द्वार पर धाये हुए लौटा दिया था,
 उसके लिए पुष्कर मथाना क्या घेरे लिए कोई अप्सरी बात है ?
 प्रायः जीवन के भागी मुल, आशा और आकांक्षा—सब से मैं विदा
 लेती हूँ।

आह ! बेदना मिली पिदाह !
 मेरे अम-वश जीवन सञ्चित,
 मधुकरियों की भीर लुटाह ।
 छलछल से सन्ध्या के समकण,
 ऑसू-स गिरते से प्रतिक्षण ।
 मेरी यात्रा पर लेती थी —
 गीरवता अनन्त भगदाह ।
 भवित स्वप्न की मधुमाया में,
 गहन-विप्लव की तरु छाया में,
 पबिक उनीदी भुति में किसने—
 यह विहाग की तान उटाह ।
 लगी सतृप्य दीठ की सब की,
 रही पचाये फिरती कब की
 मेरी आशा आह ! यावली
 तून रा दी सफल कमाह ।
 चढ़कर मेरे जीवन-रथ पर,
 प्रलय चल रहा अपन पथ पर ।
 मेरे निम्न दुर्बल पद-बल पर,
 उससे हारी-होड़ लगाह ।

लौटा लो बह अपनी माता,
मेरी कठुआ हा हा लाती।
बिह्व ! न सँभलेगी यह मुझसे,
इससे मन की लाज गँवाई !

(स्कन्दगुप्त का प्रवेश)

स्कन्द०—बेबसेना !

देव०—अप हो देम ! भीररयो में मेरी मी कुह्य प्रार्थना है ।

स्कन्द०—मालवेय-कुमारो ! क्या आहा है ! आज बन्धुवर्मा इस आनन्द की रेलने के लिए नहीं हैं । बननी अन्म-मूमि का उद्धार करने की ब्रिठ बीर की हृदय प्रतिज्ञा थी, ब्रिठका श्रुण कमी प्रतियोध नहीं किया जा सकता, उठी बीर बन्धुवर्मा की मगिनी मालवेय-कुमारो बेबसेना की क्या आहा है !

वृषसेना—मैं मृत मार्ग के स्थान पर यथाशक्ति सेवा करती रही ; अब मुझे कुछी मित्रे !

स्कन्द०—देवी ! यह न करो । जीवन के शेष दिन, कर्म के अन्तर्गत में बसे हुए हम बुझी लोम एक वृषरे का मुँह रेल कर काट लेगे । हमने अन्तर की प्रेरणा से राज-हाथ को निष्कृता की थी, यह इती पृथ्वी को स्वर्ग पनाने के लिए । परन्तु इत नन्दन की बसन्त-भी इस अमरावती की शची, इत स्वर्ग की लक्ष्मी तुम पत्नी आओ—ऐसा मैं किय मुँह से कहूँ ! (कुछ ठहर कर सावते हुए) और किय बह कठोर हृदय से तुम्हें रोहूँ !

बेबसेना । बेबसेना ।। तुम आओ । इतनाग्य स्कन्दगुप्त, अकेला स्कन्द, ओह ।।

वृषसेना—कष्ट हृदय की कठोटी है, तपस्या अग्नि है । कमाट् ! यदि इतना भी न कर सक तो क्या । तब ध्ययिक मुखों का अन्त है । ब्रिठमें मुखों का अन्त न हो, इणलिए मुख करना ही

लौटा लो बह अरुनी जाती,
मेरी कल्या हा हा लाती !
बिरुव । न सँभलेगी बह मुझसे,
इससे मन की लाव गँवाई !
(स्कन्दगुप्त का प्रवेश)

स्कन्द०—बेबसेना ।

देव०—अब हो देव । भोकरलो मे मेरी मी कुछ प्रार्थना है ।

स्कन्द०—मालवेश-कुमाठी । क्या आज्ञा है ? याब ब-बुवर्म्य इस ध्यानन्द को देखने के लिए नहीं है । बननी अन्न-भूमि का उद्धार करने की बिल बीर की दृष्ट प्रविष्टा थी, बिलका अज्ञा कमी प्रविष्टीय नहीं किया जा सकता, उसी वीर ब-बुवर्म्य की मगिनी मालवेश-कुमाठी बेबसेना की क्या आज्ञा है ।

देवसेना—मैं मृत मार के स्थान पर बचावक सेवा करती रही, अब मुझे हुँही मिले ।

स्कन्द०—देवी ! यह न करो । जीवन के शय दिन, कर्म के अचछाद में बचे हुए हम तुम्ही लोग एक दूसरे का मुँह देख कर बह सेंगे । हमने अन्तर की प्रेरणा से शक हाथ जो निष्कुरता की थी, यह इती पूष्ठी को स्वर्ग पनाने के लिए । परन्तु इत नन्दन की बसन्त-भी इत अमराबती की शयी, इत स्वर्म की लक्ष्मी तुम जाती जाओ—ऐता मैं कित मुँद से कहूँ ! (कुछ ठहर कर सावते हुए) और कित बर कबोर हृदय से तुम्हें रोऊँ !

बेबसेना ! बेबसेना ! ! तुम जाओ । इतमाग्य स्कन्दगुप्त, अरेला स्कन्द, छोड़ । !

देवसेना—अष्ट हृदय की बनीदी है, तपस्य धामि है । लप्राट । यदि इतना भी न कर सक तो क्या । सब पथिक मुल्लो का अन्त है । बिलमे मुगो का अन्त न हो, इतकिए मुल्ल करना ही

न चाहिए। मेरे इस जीवन के देवता। और उस जीवन के
प्राप्य। चमा।

(घुटने टेकती है, स्कन्द उसके सिर पर हाथ रखता है।)

[यवनिक]